।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

वेदान्तकारिकावली

अध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यया संस्कृत व्याख्यया

अध्यात्मबोधिन्या हिन्दीव्याख्यया च

सहिता

:: व्याख्याकार ::

श्रीवासुदेवशरण उपाध्याय-निम्बार्कभूषणः

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

- वेदान्तकारिकावली -

अध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यया संस्कृत व्याख्यया

अध्यात्मबोधिन्या हिन्दीव्याख्यया च

सहिता

व्याख्याकारः--

श्रीवासुदेवशरण उपाध्याय-निम्बार्कभूषणः

व्या० सा० वेदान्ताचार्यः

प्राचार्यः--श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालयस्य

अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ-निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबादः

पुष्करक्षेत्रे, अजमेरमण्डलम् (राजस्थानम्)

प्रकाशकः

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठस्थ-प्रकाशनविभागः

वि० सं० २०६०　　　　श्रीनिम्बार्काब्दः ५०९८

सर्वाधिकार सुरक्षित--
अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद

पुस्तक प्राप्ति स्थान--
अखिल भारतीय श्रीनिम्बर्काचार्यपीठ
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)
पुष्करक्षेत्र, जिला-अजमेर (राज०)

प्रथमावृत्ति--
एक हजार

मुद्रक--
श्रीनिम्बार्क--मुद्रणालय
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)
जिला--अजमेर (राज०) ३०५८१५

न्यौछावर
५०) रूपये मात्र

✻ श्रीसर्वेश्वरो जयति ✻

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

समर्पणम्

वेद-वेदान्ततत्त्वज्ञैराद्याचार्यैः प्रवर्तितम् ।
द्वैताद्वैतमतं गूढं यच्छास्त्रेषु स्वभावतः ॥१॥

चिदचिद्ब्रह्मसंज्ञानां पदार्थानां परस्परम् ।
वैलक्षण्यं च वैधर्म्य-साधर्म्यादि प्रकाशितम् ॥२॥

पण्डितप्रवर - श्रीमत्पुरुषोत्तमसूरिणा ।
वेदान्तकारिकावल्यां निबद्धं यत्समासतः ॥३॥

तदध्यात्मसुधा नद्यां व्याख्यायां व्यतनोत् सुधीः ।
यामाश्रित्य सुमन्दोऽपि तत्त्वज्ञो जायते ध्रुवम् ॥४॥

सर्वेषां सुखबोधाय सेयमध्यात्मबोधिनी ।
हिन्दीभावार्थरूपेण प्रस्तुता देशिकाज्ञया ॥५॥

निम्बार्काचार्यपीठेश धर्माचार्यशिरोमणे ! ।
करकञ्जपुटे सम्यगर्प्यतेऽध्यात्मबोधिनी ॥६॥

--वासुदेवशरण उपाध्याय

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्र-चूडामणि, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैत-प्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री श्रीजी महाराज

का

मङ्गलात्मक -- शुभाशीर्वाद

श्रीनिम्बार्क दर्शन में विद्वद्वरेण्य श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी कृत **वेदान्त कारिकावली** एवं उस पर **अध्यात्मसुधातरङ्गिणी** संस्कृत व्याख्या परम प्रख्यात है। **वेदान्त कारिकावली** संक्षिप्त होते हुए भी गागर में सागरवत अतीव महत्वपूर्ण है । कारिकावली सात तरङ्गों में विभक्त है । पूरे श्लोक ६० संख्याक है । प्रत्येक श्लोक में जो श्रीनिम्बार्क वेदान्त का विवेचन हुआ है वह अत्यन्त हृदयग्राही है । इसी वेदान्तकारिकावली पर जो अध्यात्मसुधातरङ्गिणी व्याख्या है वह सुविस्तृत तथा स्वाभाविक द्वैताद्वैत दर्शन का सम्यक्-बोध प्रदायिका है । प्रतिपाद्य विषय का जो गम्भीरतम निरूपण इसमें निहित है वह विद्वज्जनों के लिये परम उपादेय है ।

उपर्युक्त उभय महामनीषियों ने निम्बार्क वेदान्त दर्शन की साहित्य वृद्धि में परमोत्कृष्ट योगदान किया है । ये महान् दार्शनिक स्वसम्प्रदायनिष्ठ मूर्द्धन्य मनस्वी तथा परम भागवत भगवन्निष्ठ थे । इन्हीं की भाँति विद्वद्वर पं० श्रीअमलोकरामजी शास्त्री (वृन्दावन), पं० श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री (निम्बग्राम), पं० श्रीरामप्रतापजी शास्त्री (ब्यावर), पं० श्रीभगीरथजी झा (ढंगा हरिपुर-मिथिला विहार), अ० पं० श्रीव्रज-वल्लभशरणजी (श्रीजी बड़ी कुञ्ज-वृन्दावन), पं० श्रीरामगोपालजी शास्त्री (जयपुर), पं० श्रीमुरलीधरजी शास्त्री (प्रेमसरोवर-वरसाना)आदिकों की श्रीनिम्बार्क दर्शन, निम्बार्क-संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अनुपम सेवा चिरस्मरणीय रहेगी । वर्तमान में विद्वन्मूर्द्धन्य पं० श्रीवैद्यनाथजी झा, (वृन्दावन) निरन्तर श्रीनिम्बार्क वेदान्त परक विविध ग्रन्थों का भाषानुवाद करके सर्वोपादेय कार्य सम्पादित किया है वह निश्चय ही अतीव गौरवास्पद है । इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क वेदान्त के उत्कृष्ट विद्वान् पं० श्रीहरिशरणजी शास्त्री (नेपाल) एवं परम प्रख्यात सुधीप्रवर पं० श्रीखेमराजकेशव-

शरणजी शास्त्री (नेपाल), विद्वद्वर पं० श्रीमुकुन्दशरणजी शास्त्री (नेपाल) एवं श्रीनिम्बार्क दर्शन के सुप्रसिद्ध वरिष्ठ मनस्वी पं० श्रीरसिकविहारीजी (ब्यावर) विपश्चिद्वर पं० श्रीदयाशंकरजी शास्त्री (ब्यावर) प्रभृति इन विद्वानों द्वारा निम्बार्क दर्शन एवं निम्बार्क साहित्य सेवायें सर्वदा सम्प्रदाय में प्रशस्त मार्गदर्शक रहेंगी ।

अत्यन्त प्रसन्नता है इस प्रस्तुत महान् ग्रन्थ **वेदान्त कारिकावली** एवं इसी की विस्तृत संस्कृत व्याख्या रूप **अध्यात्मसुधातरङ्गिणी** का हिन्दी भाषानुवाद विद्वद्वरेण्य पण्डितप्रवर निम्बार्कभूषण श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय व्या० सा० वेदान्ताचार्य (नेपाल) ने वैदुष्य पूर्ण किया है जो सम्प्रदाय जगत् एवं निम्बार्क वेदान्त अध्येताओं के लिये अत्यन्त लाभकर होगा । पण्डितजी का व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, धर्मशास्त्र, पुराणशास्त्र प्रभृति सर्वाङ्गीण उच्चतम वैदुष्य सम्प्रदाय तथा अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ के लिये नितान्त रूपेण परम गौरवास्पद है ।

जब निम्बार्क दर्शन के अध्येता छात्रों को संस्कृत के इन जटिल-ग्रन्थों के अनुशीलन में काठिन्य का अनुभव होने लगा तो हमारे द्वारा सामान्य संकेत पर ही आपने अल्पावधि में समग्र ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग वैदुष्यपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत कर यह अतीव अत्यावश्यक कार्य सम्पादित किया है । आप अनवरत ३६ वर्षों से यहाँ आचार्यपीठ में ही सतत निवास करते हुए अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ द्वारा संचालित श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य पद को सुशोभित करते हुए पीठ द्वारा प्रकाशित निम्बार्क-पाक्षिक पत्र के सम्पादक रूप में एवं स्थानीय विभिन्न शास्त्रीय सेवाओं, श्रीमद्भागवत कथाओं, मधुर प्रवचनों से अपनी सर्वविधा सेवाओं से जो प्रशस्त कार्य संचालन सर्वदा सर्वात्मना तत्पर हैं वस्तुतः यह अत्यन्त आपका आदर्शपूर्ण स्वरूप है । यद्यपि कुछ समय से आपका स्वास्थ्य भी सानुकूल नहीं है तथापि यथावत् आप समस्त कार्यों के सम्पादन में सर्वदा सन्नद्ध रहते हैं । हम भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभु के युगलचरणारविन्दों में मंगलमयी अभिकामना आपके सर्वविध अभ्युदय के लिये करते हैं, और आप पूर्ण स्वस्थता पूर्वक चिरकाल पर्यन्त स्वसम्प्रदाय एवं आचार्यपीठ की समग्रविधा सेवा में इसी प्रकार सेवा सन्नद्ध रहें ।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ से निम्बार्क वेदान्त के जिज्ञासु जन एवं मेधावी छात्र अवश्य ही सर्वाङ्गतया लाभ प्राप्त कर निम्बार्क दर्शन के योग्य मनीषी बनें यही पुनीत कामना है ।

888

विद्वद्वरेण्य आचार्य श्रीहरिशरणजी उपाध्याय

अध्यक्ष-श्रीनिम्बार्क दर्शन केन्द्र (श्रीराधाकृष्ण मन्दिर)
गैंडाकोट (नेपाल) की

शुभ सम्मति

स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त अपने आप में महत्वपूर्ण है । वेदान्त विचार का मथितार्थ निष्कर्ष है । आपाततः द्वैत अद्वैत जैसे विरुद्ध पदार्थों का सिद्धान्त के रूप में सामञ्जस्य असम्भव सा दीखता है । किन्तु गम्भीर विचार करने पर सिद्ध हो जाता है कि द्वैत अद्वैत पदार्थों में असमञ्जसता नहीं है ।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परपक्षगिरिवज्र जैसे अनेक महान् ग्रन्थ हैं, बहुत क्लिष्ट हैं । जिन पर पार पाना साधारण व्यक्ति को असम्भव हो जाता है । इस रहस्य को समझने वाले हमारे पूर्व मनीषी, पुरुषोत्तमप्रसादजी ने एक सरलतम उपाय का अलम्बन किया । वेदान्त के ग्रन्थियो के सुलझाने के लिए "वेदान्त कारिकावली" जैसी सुबोध शैली की पुस्तक लिखी । वेदान्त तो वेदान्त है ही । "वेदान्त कारिकावली" मात्र से उनका मन सन्तुष्ट नहीं हुआ तो मन में तरंग का आना स्वाभाविक ही था । अतः उन्होंने वेदान्त कारिकावली को "अध्यात्मसुधातरंगिणी" के रूप में प्रवाहित करने का संकल्प लिया तदनुसार उसका क्रियान्वयन किया । वह भी साधारण व्यक्ति के लिए अर्थात् संस्कृत भाषा को न समझने वाले के लिए तो दुरुह है ही । दूसरी बात यह है कि द्वैताद्वैत सिद्धान्त को समझने के लिए इससे सरलतम कोई उपाय भी नहीं है । स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त में प्रवेश करने के लिए यह प्रथम सोपान है । इस सरल सोपान को अनायास लांघने के लिए अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ द्वारा सञ्चालित श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य विद्वत्प्रवर श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय ने हिन्दी रूपान्तर करने का बेड़ा उठाकर जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है । श्रीउपाध्यायजी निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्यतम विद्वान् है, इनकी कई रचनाएं है । अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थ पर दृष्टि डाल रहे हैं । हम आशा करते हैं कि अन्य ग्रन्थों पर भी हिन्दी रूपान्तर का कार्य करते रहेंगे ।

भूमिका

यह सम्पूर्ण जगत् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक इन त्रिविध तापों से परिपूर्ण एवं परिपीड़ित है । तापत्रय से मुक्ति प्राप्त करने हेतु तत्ववेत्ता परावरज्ञ ऋषियों ने अपने सतत परिश्रम एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन द्वारा जिस साधन का अन्वेषण किया वह दर्शन नाम से विख्यात हुआ । यह दर्शन शास्त्र ही अन्य सम्पूर्ण विद्याओं के अध्ययन से समुत्पन्न भ्रमान्धकार को विनष्ट करने में भगवान् भुवनभास्कर के समान सक्षम है । सभी के अनुष्ठान का एकमात्र साधन है, तथा सम्पूर्ण धर्मो का आधार है ।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

ये दर्शन छः है ।

(१) पूर्वमीमांसा (२) उत्तरमीमांसा (वेदान्त) (३) सांख्यदर्शन (४) योगदर्शन (५) न्याय दर्शन (६) वैशेषिक दर्शन ।

इन षड् विध दर्शनों में सर्वाधिक चिन्तन मनन लेखन आचार्यों ने वेदान्त दर्शन पर किया । समस्त सुधीजनों ने प्रस्थानत्रयी (गीता उपनिषद् ब्रह्मसूत्र) पर स्वाभिमतानुकूल व्याख्या प्रस्तुत की । जीव जगत् (माया) ब्रह्म इत्यादियों के स्वरूप व सम्बन्ध का बोध कराने वाला भी वेदान्त दर्शन ही है । इस दर्शन की व्याख्या भगवान् शङ्कराचार्य अद्वैतपरक करते हैं तो रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत से सम्बन्धित स्वाभिमत प्रकट करते हैं । वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं । तो भगवान् निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत अङ्गीकार करते हैं ।

अस्तु-रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु कुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।

इस महिम्न स्तोत्र के कथन के आधार पर सभी का गम्य प्राप्य एक ही परब्रह्म परमात्मा है । अतः समस्त जगद्वन्द्य आचार्यों के सिद्धान्त का आधार वेदान्त दर्शन है ।

वेदान्त दर्शनोदधि का मन्थन करके निम्बार्क भगवान् ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों को निम्बार्क सम्प्रदाय का आधार बनाया उन सिद्धान्तों को वेदान्त कारिकावली में कारिका बद्ध प्रस्तुत किया है ।

वेदान्तकारिकावली:--

यह "वेदान्त कारिकावली" ग्रन्थ श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी की मौलिक रचना है । इसमें केवल ६० श्लोकों में अपने वेदान्त के सारार्थ का सफल रीति से निरूपण किया है । यह पूर्णतः आध्यात्मिक सरल सुबोध गम्भीर ग्रन्थ है । क्योंकि शब्दाल्पता व अर्थ गाम्भीर्यता ही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है ।

अध्यात्मसुधा तरङ्गिणी व्याख्याकार पुरुषोत्तमप्रसादजी--

श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के गौरवशाली विलक्षण विद्वान् थे । इन्होंने वेदान्त कारिकावली पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की । उक्त ग्रन्थ में विवेच्य विषयों को तरङ्गों में विभाजित किया जैसा कि अग्रिम कथन से स्पष्ट है ।

"अत्र सप्त तरङ्गाः स्युः" प्रत्येक तरङ्ग में क्रमिक जीवतत्व, अचेतन तत्त्व, परमात्म तत्त्व, साधन तत्त्व, सहायक तत्त्व, विरोधी तत्त्व, मोक्ष तत्त्व इत्यादि के गम्भीर भावों को विविध शास्त्र पुराण उपनिषद्, गीता इत्यादि ग्रन्थों के उद्धरण देकर व्याख्यायित किया है । इन्होंने आर्ष शैली में यह टीका लिखी है । किन्तु कहीं-कहीं जटिल भी हो गई है । जिससे इनकी विद्वत्ता का पता चलता है । भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि ने उत्कृष्ट व्याख्यान उसे माना है, जिसमें उदाहरण प्रत्युदाहरण एवं वाक्याध्याहार हो उक्त तीनों ही लक्षण इनकी टीका में पूर्णतः परिलक्षित होते हैं । अतः यह टीका निर्दोष एवं वैदुष्यपूर्ण है । इतने विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् के जीवन परिचय के विषय में पुष्ट प्रमाण न मिलने के कारण उनका परिचय देना सम्भव नहीं हो सका ।

वस्तुतः उक्त टीका आध्यात्मिक ज्ञानामृत की सरिता को प्रवाहित करती है । किन्तु संस्कृत में अनूदित होने से सामान्य व्यक्ति के लिए इसे समझना कठिन हो गया, इस कारण से लोगों की रुचि कम होने लगी अतः इस टीका का हिन्दी अनुवाद बहुत आवश्यक हो गया था । पूज्य आचार्यश्री की अनुज्ञा से सबके सौविध्य के लिए "अध्यात्मबोधिनी" नामक हिन्दी व्याख्या सहित प्रकाशित होने से निम्बार्क दर्शन के जिज्ञासु पाठकों को इसका पूर्ण लाभ मिलेगा । हिन्दी व्याख्याकार का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जा रहा है ।

प्रतिपाद्य विषय--

सभी वेदान्त के ग्रन्थों में जीवात्मतत्त्व, अचेतन तत्त्व, परमात्म तत्त्व, साधन तत्त्व, बाधक तत्त्व, मोक्ष इत्यादि तत्त्वों की विवेचना की गई है । जिनकी ग्रन्थाभिमत व्याख्या संक्षेप में अधोलिखित है ।

जीवात्मतत्त्व--

ग्रन्थ के प्रारम्भ में लगभग ग्यारह (११) कारिकाओं में जीवात्मा का स्वरूप लक्षण व भेदों का संग्रह है । जीवात्मा का स्वरूप चतुर्थ कारिका में प्रस्तुत किया है । जो निम्नांकित है ।

देहेन्द्रिमनोबुद्धि प्राणादिभ्यो विलक्षणाः ।
ज्ञानस्वरूपा ज्ञातारो ह्यहमर्थाश्च ते मताः ।।

अर्थात् देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणादियों से विलक्षण चैतन्य स्वरूप तथा चैतन्य के आधार अर्थात् धर्मभूत ज्ञान के आश्रय एवं अहमर्थ के विषय जीव माने गये हैं । कारिका में बहुवचनान्त पदों का प्रयोग जीवों की अनन्तता को सिद्ध करता है । जो भगवान् निम्बार्काचार्य प्रणीत वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी प्रयुक्त "यदनन्त-माहुः" वाक्यार्थ के समान है । सांख्यमतानुयायी भी पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त को अङ्गीकार करते हैं ।

नित्यमुक्तादिभेदेन ज्ञातव्यास्त्रिविधाः खलु अर्थात् नित्यमुक्त, नित्यबद्ध और बद्ध भेद से जीव तीन प्रकार के स्वीकृत है ।

शांकर भाष्य में भी जीवात्मा को इसी प्रकार परिभाषित किया है । "पर एवात्मा देहेन्द्रिय मनोबुद्धयाद्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते ।" अर्थात् इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा शरीर की उपाधियों से भरा हुआ और पृथक्-पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है । यह जीव ही प्रमाता भोक्ता तथा कर्ता है ।

अचेतनतत्व--

ग्रन्थ का द्वितीय विवेच्य बिन्दु अचेतन तत्व है । कहा भी है--द्वितीये निर्णयो ज्ञेयोऽचित् स्वरूपस्य लक्षणम् । ग्रन्थ के अध्यात्म सुधातरङ्गिणी टीकाकार अपनी टीका में अचेतन तत्व को परिभाषित करते हुए लिखते हैं ।

"यत् पदार्थं परार्थं स्वार्थहीनं चैतन्य गुणेन हीनश्च भवति तदचेतनं बोध्यम् ।" अर्थात् जो पदार्थ अन्य के उपयोग के लिए हो स्वयं के उपयोग के लिए नहीं हो तथा चेतनता रूपी गुण से हीन होता है । उसको अचेतन पदार्थ जानना चाहिए । ग्रन्थकार स्वयं श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी अचेतन तत्व के तीन भेद बतलाते हैं ।

प्राकृतं कालरूपश्चाऽप्राकृतं चेति वै त्रिधा ।।१।।

अर्थात् प्राकृत, कालस्वरूप अप्राकृत ये तीन अचेतन तत्व के भेद है । जड़ कहो या अचेतन तात्पर्य एक ही है । इन तीनों तत्वों का विस्तृत विवेचन श्रीपुरुषोत्तम-प्रसादजी ने अपनी ही व्याख्या अध्यात्मसुधातरङ्गिणी के द्वितीय तरंग में किया है ।

परमात्मतत्व--

वेदान्त दर्शन में परमात्मा को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया है । ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण भी है । ईश्वर ही जगत् का कर्ता, पालक तथा संहर्ता है । "जन्माद्यस्ययतः" ब्रह्मसूत्र एवं "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्वेति ब्रह्म" यह श्रुति वाक्य दोनों का भावार्थ ग्रन्थकार निम्नलिखित कारिका में व्यक्त करते हैं ।

विश्वजन्मादिहेतुश्च शास्त्रयोनिः समन्वितः ।
शास्त्रेष्वस्पृष्टदोषो वै कल्याणगुणसागरः ॥

अर्थात् परमात्मा इस संसार की जन्म स्थितिलय आदि का कारण, समस्त शास्त्रों में समन्वित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इत्यादि पांच दोषों से रहित है तथा दिव्य कल्याणकारी गुणों का समुद्र है । ग्रन्थकार लगभग सात कारिकाओं में परमात्मतत्व का निरूपण करते हैं ।

साधनतत्व--

सर्वनियन्ता सर्वेश्वर सर्वात्मा सर्वज्ञ प्रभु की प्राप्ति किन-किन भावों द्वारा की जा सकती है । इन भावों का वर्णन ग्रन्थ की अधोनिर्दिष्ट कारिका में दर्शाया गया है ।

कर्म ज्ञानं च भक्तिश्च प्रपत्तिश्च हरेर्गुरोः ।

कर्म, ज्ञान, भक्ति हरिप्रपत्ति, गुरुप्रपत्ति इत्यादि साधनों द्वारा मुमुक्षुजन जीवन के परमोद्देश्य भगवद् भावापत्ति मोक्ष को प्राप्त करते हैं । प्रपत्ति शब्द का तात्पर्य शरणागति है । जिसके ग्रन्थ की टीका में छः भेद बतलाये हैं ।

अनन्तर गुरु महिमा पर भी प्रकाश डाला है । क्योंकि बिना गुरु कृपा के व्यक्ति भवसागर को पार नहीं कर सकता "गुरु बिनु भवनिधि तरहि न कोई" ग्रन्थ की टीका में लिखा है कि जो गुरु में मनुष्यभाव रखता है वह नरकगामी होता है ।

यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरक पातिनौ ।
एकाक्षर प्रदातारमाचार्य्यं यो ऽवमन्यते ।
श्वानयोनिं शतं प्राप्य चाण्डालेष्वभिजायते ।

अर्थात् गुरु की हरिवत् आराधना करनी चाहिए । भगवद् प्राप्ति में गुरु प्रपत्ति परम साधन है ।

सहायक साधन--

उपर्युक्त साधनों के सहकारी साधनों का प्रतिपदोक्त उल्लेख ग्रन्थकार अग्रिम कारिका में करते हैं ।

उक्तोपाय कदम्बस्य भण्यन्ते सहकारिणः ।
श्रद्धाऽऽर्जवं च विश्वासः सतां सङ्गो विरागता ॥

अर्थात् श्रद्धा, आर्जव, विश्वास, सत्संग और वैराग्य ये पांच सहायक तत्व हैं । जो परमात्मा की प्राप्ति में अतिशय सहायक हैं । तथापि ग्रन्थकार साधन प्रकरण के अन्त में कृष्णानुग्रह को प्रधानतम साधन स्वीकार करते हैं ।

विरोधीतत्व--

भगवद् भावापत्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयासरत व्यक्ति के मन में उठने वाली विपरीत विचार धारा को विरोधी तत्व शब्द से ग्रन्थकार ने अभिहित किया है ।

संक्षेप में निम्नांकित हैं ।

संन्यासादि विधि छोड़कर द्वेषादि के कारण अर्थात् बिना वैराग्य के माता, पिता, बन्धु, पुत्र, कलत्र, इत्यादि का परित्याग करना, देव दुर्लभ देह प्राप्त करके पशु की तरह केवल भोगों में ही उसका नाश करना अपने धर्म गुण पुरुषार्थ आदि का मूल्य द्वारा विक्रय करना, भगवान् की पूजा से पूर्व ही भोजन करना, इत्यादि अनेक आचरण मुक्ति प्राप्ति में प्रतिबन्धक हैं । जिनका विवेचन मनोवैज्ञानिक आधार पर बहुत ही मार्मिक शैली में उक्त ग्रन्थ में किया है । लगभग अट्ठारह कारिकाओं में वर्णित है ।

मोक्ष--

मोक्ष का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की सर्वप्रथम विशेषता है । जिसकी सत्ता प्रत्येक दर्शन में किसी न किसी रूप में विद्यमान है । आचार्य शंकर ने तत्तुसमन्वयात् इस सूत्र के विवेचन क्रम में ब्रह्मभावश्च मोक्षः ब्रह्मभाव या ब्रह्मावगति को मोक्ष कहा है । यह मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप वाला है । "नित्य शुद्धब्रह्मस्वरूपवान् मोक्षः" ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः श्रुति प्रमाण से ज्ञान के विना मुक्ति असंभव है । वेदान्त शास्त्र का परम प्रयोजन भी मोक्ष का निरूपण है । इसी परिपेक्ष्य में ग्रन्थकार भी आचार्य शंकर सम्मत ही मोक्ष का अर्थ निरूपित करते हुए उसके भेद बतलाते हैं ।

मुकुन्दभाव संप्राप्तिः शास्त्रे प्रोक्तं परं फलम् ।
सैव सायुज्य साधर्म्य ब्रह्मसाम्यादि संज्ञिकाः ॥

निम्बार्क सम्प्रदाय सम्मत मोक्षार्थ मुकुन्द भाव संप्राप्ति है । और सायुज्य साधर्म्य ब्रह्मसाम्यादि नामों से अभिहित किया जाता है । लगभग चार कारिकाओं में मोक्षस्वरूप व मुक्ति प्राप्ति का मार्ग निर्देशन किया है । इस तरह संक्षेप में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य बिन्दुओं का विवेचन है ।

अध्यात्मबोधिनी हिन्दी व्याख्याकार

प्रस्तुत व्याख्या के रचयिता विद्या रसिक सतत स्मरणीय मृदुल सुस्वभाव विद्वज्जन वन्दनीय विप्रवंशावतंस अनुकरणीय सदाचरण पं० प्रवर श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय व्याकरण साहित्य वेदान्ताचार्य मूलतः नेपाल निवासी हैं । आपका जन्म वि० सं० १९९७ (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी) भाद्रपद मास दिनाङ्क १८/८/१९४० को नेपाल राष्ट्र के गण्डकी अञ्चल स्याङ्जा मण्डलान्तर्गत किचानासदह ग्राम में हुआ था । आपसे एक बड़ी बहिन और छोटे ३ भाई है । आपके पिता श्रीहरिप्रसादजी उपाध्याय (हरिशरणजी) माता श्रीउमाकान्तिदेवी उपाध्याय (इन्दुलेखा) अपने समय के परम भागवत वैष्णव थे ।

बाल्यावस्था

"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्" इस नीति वचन के अनुसार आपको स्वकीय माता-पिता से श्रेष्ठ संस्कार विरासत में हस्तगत हुए । माताश्री द्वारा प्रारम्भिक अक्षर ज्ञान व ईश्वर विषयक दृढ़ संस्कार मिले । आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार के बाद शुक्ल यजुर्वेद का सस्वर अध्ययन तथा व्याकरण काव्य कोष आदि के अध्यापनार्थ घर पर ही व्यवस्था की थी । द्वादशवर्षीयावस्था में अनन्त श्रीसार्वभौमाचार्य श्रीभगवत्शरणदेवजी महाराज से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की । माता-पिता की हार्दिक इच्छा थी कि बालक एक उत्कृष्ट विद्वान् व भगवद् भक्त हो । महापुरुषों की संकल्प सिद्धि होती है । अतः प्रभु प्रेरणा से आप १८ वर्ष की अवस्था में श्रीधाम वृन्दावन पहुँचे । जहाँ पर सरस्वती समुपासक भागवत भूषण विद्वद्वरेण्य पं० श्रीतुलसीशरणजी महाराज के संरक्षकत्व में आपने पूर्वमध्यमा (दसवीं) कक्षा तक वृन्दावन से उत्तीर्ण की । तत्पश्चात् सन् १९६० में श्रीमाधव संस्कृत महाविद्यालय गोवर्धन में प्रवेश लेकर आचार्य पर्यन्त नियमित छात्र के रूप में अध्ययन किया । अध्ययन वेला में महाविद्यालय के प्रधानाचार्य श्रीगणेशदत्तजी पाण्डेय की आप पर विशेष कृपा रही । १९६६ में व्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वदेश लौट गये । कुछ समय पश्चात् पुनः वृन्दावन पहुँचे गोवर्धन में अध्यापन प्रारम्भ किया ही था । प्रसङ्गवश अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री श्रीजी महाराज के दर्शनार्थ वृन्दावन जाना हुआ और पूज्य महाराजश्री की आज्ञानुसार आपने निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद के श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय का प्राचार्य पद अलंकृत किया । जहाँ आपकी अद्यावधि उत्कृष्ट श्लाघनीय सेवा चल रही है । आप अध्यापन के साथ श्रीनिम्बार्क पाक्षिक पत्र का सम्पादन भी करते हैं ।

आप संस्कृत, हिन्दी, नेपाली तीनों भाषाओं के अधिकृत मनीषी हैं । उक्त तीनों भाषाओं में कविता, निबन्ध आदि भी लिखते हैं। आपके इन्हीं महनीय कार्यों से

तथा सम्प्रदाय के प्रति अगाध निष्ठा से प्रसन्न होकर सन् १९८७ के श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव के अवसर पर अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ की ओर से आपको निम्बार्क-भूषण की पदवी से स्वयं पूज्य आचार्यचरणों ने अलंकृत किया ।

आपने श्रीराधाकृष्णोपनिषद् की संस्कृत व्याख्या युग्मतत्वदीपिका हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत की, तत्पश्चात् वेदान्तकारिकावली ग्रन्थ का एवं तदीय संस्कृत व्याख्या अध्यात्मसुधातरङ्गिणी का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है । आपका हंसवंश चरितं काव्य अभी अप्रकाशित है ।

आपका विवाह विद्याध्ययन काल में ही सम्वत् २०१९ को परम वैष्णव भागवत कुल की सुयोग्य कन्या से हो गया था, आपकी सद् गृहिणी श्रीमती सुभद्रा देवी उपाध्याय सफल गृहिणी के रूप में घर का समस्त व्यावहारिक उत्तरदायित्व वहन करती हैं । आपका स्थायी निवास नेपाल राष्ट्र के लुम्बिनी अञ्चल भैरहवा के समीप टिकुलीगढ है । श्रीसर्वेश्वर प्रभु की असीम अनुकम्पा से आपका दाम्पत्य जीवन स्वाध्याय भगवदुपासना सेवा परायणता से युक्त सुखमय सन्तोषमय चल रहा है ।

धर्मपत्नी श्रीमती सुभद्रादेवी के गर्भ से उत्पन्न आपके दो पुत्र व दो पुत्री हैं सभी सुशिक्षित, सुयोग्य एवं संस्कारी हैं । ज्येष्ठ पुत्र श्रीमुकुन्दशरण उपाध्याय नव्य-व्याकरणाचार्य हैं । तथा वर्तमान में राजकीय प्रवेशिका विद्यालय के प्रधानाध्यापक पद पर कार्यरत हैं । द्वितीय पुत्र श्रीहरिमोहन उपाध्याय शास्त्री एम० ए० (नेपाली) पोखरा में निजी विद्यालय चलाते हैं । आपकी बड़ी पुत्री श्रीमती राधिका भण्डारी अंग्रेजी से एम० ए० हैं । और छोटी पुत्री श्रीमती रुक्मिणी अर्ज्याल बी० ए० (स्नातक) परीक्षा उत्तीर्ण है । अतः आपका सन्तति पक्ष अधोलिखित उक्ति को अक्षरशः सार्थक करता है ।

पुण्य तीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यति दुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥

अतः श्रीराधामाधव प्रभु की महती अनुकम्पा प्राप्त करते हुए आप वर्तमान में प्रभु चरणों में ही सेवा कार्य अनवरत रूप से प्रदान करते हुए अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को सार्थक कर रहें हैं । श्रीसर्वेश्वर प्रभु के चरणों में यही प्रार्थना है कि आप जैसे भगवद् भक्त विलक्षण विद्वान् सदा सर्वदा आचार्यपीठ में विद्यमान रहें ।

विदुषांवशंवद--
निम्बार्कभूषण **रमाकान्त शर्मा** व्याकरणाचार्य
प्राध्यापक-
श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद, जि. अजमेर (राज.)

* स्वकीय - भावाभिव्यक्ति *

श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्रादि शास्त्रों में चित्, अचित्, ईश्वररूप तत्त्वत्रय का जो स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध स्वतः स्फूर्त होने पर भी सर्व संवेद्य न होने से तिरोहित सा रहता है उसी सम्बन्ध को शास्त्र प्रमाणों से समन्वयात्मक रूप में सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने संक्षिप्ततया प्रवर्तन किया । तदनन्तर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती पूर्वाचार्यों, चिन्तनशील विद्वानों, सम्प्रदायनिष्ठ मनीषीजनों ने भाष्य ग्रन्थों, मौलिक निबन्धों, व्याख्याओं, कारिकावली-स्तोत्रावली प्रभृति ग्रन्थों की रचना द्वारा द्वैताद्वैत किंवा भेदाभेद सिद्धान्त का उपबृंहण किया ।

उन्हीं चिन्तनशील विद्वानों, सम्प्रदायनिष्ठ मनीषीजनों में अन्यतम विलक्षण वैदुष्य विभूषित पण्डित प्रवर श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी हुए । उनके जन्म व ज़न्म स्थान आदि के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है किन्तु सत्रहवी शताब्दी के श्रीअनन्तरामदेव के आप समकालीन थे, यह उनकी रचना शैली के साम्य से अवगत होता है तथा दोनों के मंगलाचरण पद्यों से भी ज्ञात होता है किं श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की श्रीमत्स्वभूरामदेवाचार्य परम्परा के परम मनीषी आचार्य श्रीधर्मदेवजी (धर्मदास) महाराज इन उभय विद्वानों के दीक्षागुरु थे । श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रसादजी ने समग्र भाष्य ग्रन्थों का अनुशीलन कर द्वैताद्वैत सिद्धान्त को सर्वजन संवेद्य बनाने के लिए सर्वप्रथम "वेदान्त कारिकावली" की रचना की जिसमें लगभग ६० पद्य हैं । जैसे न्याय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित श्रीविश्वनाथजी पञ्चानन ने पूर्व में "कारिकावली" तथा बाद में उसी की व्याख्या न्याय सिद्धान्त मुक्तावली की रचना करके न्याय जगत् में एक सुगम व सरल पद्धति का शुभारम्भ किया उसी प्रकार श्रीपुरुषोत्तमजी ने भी "वेदान्त कारिकावली" के ऊपर "अध्यात्मसुधातरङ्गिणी" नामक व्याख्या लिखकर द्वैताद्वैत दर्शन के जिज्ञासुओं के प्रति महान् उपकार किया है । आपकी एक अन्य भाष्य रचना "श्रुत्यन्तसुरद्रुम" नाम से परम प्रसिद्ध है । पञ्चविंशति पद्यात्मक श्रीकृष्णस्तवराज (सविशेष-निर्विशेष) की यह विस्तृत व्याख्या है । दार्शनिक विषयों का सर्वाङ्गीण समावेश होने से श्रुत्यन्तसुरद्रुम ग्रन्थ का विद्वत्समाज में अत्यन्त समादर है ।

"अध्यात्मसुधातरङ्गिणी" ग्रन्थ राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर के त्रिवर्षीय शास्त्री पाठ्क्रमान्तर्गत शास्त्री अन्तिम वर्ष परीक्षा में निम्बार्कदर्शन

द्वितीय प्रश्न पत्र के लिए निर्धारित है । वर्षों पहले प्रकाशित उक्त ग्रन्थ की प्रतियां अब दुर्लभ हैं । आचार्यपीठ में एक प्रति थी, उसी की फोटो कापी कराकर छात्रों को पढाते आरहे हैं । पूज्य जगद्गुरु श्री श्रीजी महाराज से इसके पुनः प्रकाशन हेतु जब परामर्श किया गया तब आचार्यश्री ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराने की अनुमति प्रदान की । समग्र ग्रन्थ केवल संस्कृत में प्रकाशित है, स्वाध्याय हेतु छात्रों को भी कठिनाई पड़ती, अन्य जिज्ञासु जो संस्कृत के अनभिज्ञ हैं उनको भी लाभ मिले एतदर्थ "अध्यात्मबोधिनी" नाम से हिन्दी व्याख्या तैयार की गई है । इस व्याख्या प्रकरण में श्रुति, स्मृति, सूत्र आदि प्रमाणार्थ उद्धृत वचनों की भी समग्र रूप से व्याख्या की गयी है । अब यह ग्रन्थ केवल छात्रों के लिए ही उपयोगी न होकर दर्शन के रहस्य को जानने की इच्छा रखने वाले सभी महानुभावों के लिए भी उपयोगी रहेगा । निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिबोध सरलता से सबको हो जाय इसका लक्ष्य है ।

अध्यात्मसुधातरङ्गिणी के इस सानुवाद प्रकाशन में पं० श्रीरमाकान्तजी शास्त्री व्याकरणाचार्य, प्राध्यापक श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद ने अपनी वैदुष्यपूर्ण विवेचनात्मक शैली में भूमिका लिखकर ग्रन्थ का सारतत्व प्रस्तुत किया, वे शतशः साधुवादार्ह हैं । वेदान्तदर्शन के मर्मज्ञ मनीषी आचार्य श्रीहरिशरणजी उपाध्याय अध्यक्ष-श्रीनिम्बार्क दर्शन केन्द्र, गैंडाकोट (नेपाल) का मैं आभारी हूँ आपने ग्रन्थ की पृष्ठ भूमि एवं वर्तमान में उसकी उपयोगिता के विषय में अपनी सारगर्भित सम्मति प्रदान कर अनुगृहीत किया ।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्री श्रीजी महाराज के शुभाशीर्मय वचनों से इस ग्रन्थ का गौरव अत्यन्त बढा है । आपश्री की सानुग्रह अनुज्ञा से यह कार्य सम्पन्न हो सका है । पिछले कई वर्षों से मन में तरङ्ग उठ रहे थे तरङ्गिणी का सानुवाद प्रकाशन किया जाय, किन्तु बीच में स्वास्थ्य प्रतिकूल होने से अनुवाद अधूरा था, अब प्रभु कृपा से पूर्ण हुआ । पूज्य आचार्यश्री के अनुग्रह से प्रकाश में आरहा है, गुरुजनों का आशीर्वाद मिले, सुधीजनों की सद्भावना प्राप्त हो, छात्रवृन्द लभान्वित हों, इन्हीं भावनाओं के साथ लेखनी को विराम देता हूँ ।

विदुषांवशंवद--

वासुदेवशरण उपाध्याय

॥ तत्त्वोपदेशदशकम् ॥

तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वरमेतदाहुर्वेदस्य "तत्त्वमसि" वाक्यगतास्तुशब्दाः ।
सर्वं विचिन्त्य निगमागमशास्त्रविद्भिः स्वाभाविकी स्थितिरियं परिबोधनीया ॥१॥
सांख्या वदन्ति जगतः प्रकृतिं प्रधानं वैशेषिकाश्च परमाणुसमूहमेव ।
मीमांसका यदिह कर्म परे तु शक्तिं नानाविधापतितदोषतया त्वमान्यम् ॥२॥
ब्रह्मैव कारणमवेत "सदेव सौम्य" सिद्धं निदर्शनमिदं सचराचरस्य ।
स्वर्णस्य यद् विविधरूपमलङ्कृतौ तद् ब्रह्मात्मकत्वमपि वेदविदां प्रमाणम् ॥३॥
सत्कार्यकारणविधौ स्वमतं विभाव्य पक्षा इमे बहुविधैर्वचनैर्निरस्ताः ।
क्षेत्रज्ञरूप विवृतावपि भूरि मार्गाः सन्ति प्रमाणरहिताश्च विवादमात्राः ॥४॥
देहं मनो मतिमथेन्द्रियवर्गमेतं भूतादिसङ्घमुत यत् परिमाणरूपम् ।
शून्यं प्रधानमिति कर्म तु शक्तिमेके क्षेत्रज्ञमाहुरपरे विभुमात्मविज्ञाः ॥५॥
तेषां मतानि सकलानि विदूषितानि व्याघातदोषबहुलानि विचारयन्तु ।
सिद्धान्ततोऽणुपरिमाणक एष आत्मा ज्ञाता प्रकाशमयचित्प्रतिदेहगामी ॥६॥
चित्तत्त्वमेवमवगम्य ततश्च मायातत्त्वं त्रिरूपमपि कालगुणादिभेदैः ।
दिव्यं प्रभोः परमधामगतं च वस्तु क्षित्याद्यचेतनमदिव्यमवेत विज्ञाः ॥७॥
पश्चादचिन्त्यगुणरूपसुशीलकर्मा भक्तानुकम्पितदयार्णवपारिजातः ।
सर्वेश्वरो युगलरूपधरो वरेण्य आराधनीय उररीकृतसत्ववद्भिः ॥८॥
कल्पद्रुमाधिकृतमध्यसुमण्डपाढ्यं कूजद्विहङ्गकुलसेवितमञ्जुशाखम् ।
राधापदाङ्कितरजोविलसत्प्रभावं वृन्दावनं विजयते यमुनाऽवृताभम् ॥९॥
ध्यायेत्सदासहचरीगणसेव्यमानौ भक्ताभिवाञ्छितमनोज्ञवपुर्दधानौ ।
भिन्नावुभावपि न गौरसुनीलवर्णौ राधामुकुन्ददयितावुपगीयमानौ ॥१०॥

--वासुदेवशरण उपाध्याय

✻ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ✻

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

- वेदान्तकारिकावली -

अध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यया संस्कृत व्याख्यया

अध्यात्मबोधिन्या हिन्दीव्याख्यया च

समलङ्कृता

श्रीधर्मदेवपादाब्जं स्वभूवंशाब्धि सम्भवम् ।
संसारतापशान्त्यर्थं बुद्धौ संधारयेऽनिशम् ॥

✻ मङ्गलाचरणम् ✻

श्रीराधामाधवौ दिव्यौ वृन्दावनविहारिणौ ।
सखीवृन्दसमाराध्यौ नमामि रसिकेश्वरौ ॥१॥
श्रीमद्धंसं कुमारांश्च देवर्षिं निम्बभास्करम् ।
वन्दे परम्पराचार्यान् श्रीगुरुं चाथ वैष्णवान् ॥२॥
वेदान्तकारिकाव्याख्या या ह्यध्यात्मसुधानदी ।
अध्यात्मबोधिनी तस्या हिन्दी व्याख्या विरच्यते ॥३॥

अध्यात्मबोधिनी

वेदान्तकारिका के व्याख्याकार पण्डितप्रवर श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी अपने गुरुदेव का स्मरण करते हुए प्रतिपाद्य विषय को सन्दर्भित करते हैं--

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीस्वभूरामदेवाचार्य परम्परानुयायी पूज्य गुरुदेव श्रीधर्मदेवजी महाराज के पादपद्मों को संसार के जन्म-मरण एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि तापों की

शान्ति के लिए निरन्तर बुद्धि में धारण करता हूँ । अर्थात् किसी भी क्षण विस्मरण न हो ऐसे सुदृढ भाव से चिन्तन करता हूँ ।

अथ सकलब्रह्मरुद्रादिवन्दितपादपीठाचिन्त्यानन्तस्वरूपगुणशक्तिः श्रीवासुदेवाज्ञप्तो जगदुद्दिधीर्षुर्भगवाँच्छ्रीसुदर्शनो नियमानन्दसमाख्यया ऽवनीतलावतीर्णः सर्ववेदान्तशास्त्रार्थमनेकप्रबन्धैर्वाक्यार्थरूपेण सञ्जग्राह, ताँश्च प्रबन्धाञ् शंङ्खावतारस्तच्छिष्यप्रवरो भगवाँच्छ्रीश्रीनिवासाभिधो निगदं वभाषे, श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यादयश्च विवरणयामासुः, तेषां शब्दतोऽर्थतश्चा-ऽपारत्वेनाऽतिगम्भीराशयत्वेन चाऽल्पबुद्धीनां तज्जिज्ञासूनां तत्र प्रवृत्त्यनर्ह-तामवगम्य तेभ्यस्तदर्थजिग्राहयिषया सुकरोपायस्य पूर्वाचार्य्यप्रणीतशास्त्रार्थ-संग्रहरूपस्याऽध्यात्मसुधातरङ्गिण्याख्यग्रन्थस्याऽऽरम्भः श्रीश्रीनिवासानुग्रहै-ककामेन मया क्रियते,

तदनन्तर सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्यजी की महिमा बताते हैं, समस्त ब्रह्मरुद्र-इन्द्रादि देववृन्द द्वारा अभिवन्दित है चरण चौकी जिनकी ऐसे अचिन्त्य अनन्त गुण-रूप-शक्ति वाले भगवान् चक्रराज श्रीसुदर्शन प्रभु सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर श्रीहरि की **सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्यसमप्रभ । अज्ञान तिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय** । इस आज्ञा से सांसारिक जीवों के उद्धार हेतु देववन्दित भारत वसुधा पर श्रीनियमानन्द नाम से महर्षि अरुण तथा माता जयन्ती के पुत्र रूप में प्रकट हुए । आपश्री ने सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र के तात्पर्यों को **वेदान्त पारिजात सौरभ** नामक ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता वाक्यार्थ, सदाचार प्रकाश, अनेक स्तोत्र ग्रन्थों, दशश्लोकी आदि प्रबन्धों द्वारा संक्षेप में संग्रह किया है । उक्त प्रबन्धों का आपश्री के शिष्य प्रवर शंखावतार भगवान् श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ने विस्तृत रूप से **वेदान्त कौस्तुभ भाष्य** तथा परवर्ती आचार्यप्रवरों श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्रीसुन्दरभट्टाचार्य, श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टा-चार्य, श्रीहरिव्यासदेवाचार्य प्रभृति ने वेदान्तरत्न मञ्जूषा, (दशश्लोकी व्याख्या) सिद्धान्तजाह्नवी, द्वैताद्वैतसिद्धान्तसेतुका, वेदान्तकौस्तुभप्रभावृत्ति

(ब्रह्मसूत्र भाष्य) सिद्धान्त रत्नाञ्जलि (दशश्लोकी व्याख्या) की विशद रचनाएँ की । उन सब भाष्यों, व्याख्याओं का शब्द से, अर्थ से भी अति गम्भीराशय और अपार होने से वेदान्त तत्त्व के जिज्ञासु अल्प बुद्धिवालों का उन में प्रवेश कठिन है, अतः उन सर्वसाधारण जनों को भी सुगमता से वेदान्त का रहस्य समझ में आवे एतदर्थ पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का आश्रय लेकर **वेदान्तकारिका** के व्याख्या रूप **अध्यात्मसुधातरङ्गिणी** नामक ग्रन्थ की रचना मैं करता हूँ । इसमें भाष्यकार आचार्य प्रभु श्री श्रीनिवासाचार्यजी महाराज के अहैतुक अनुग्रह ही एकमात्र अवलम्ब है ।

(तस्याऽर्थसंग्रहश्लोकाश्च) इस ग्रन्थ की विषय वस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन करते हैं ।

अत्र सप्त तरङ्गाः स्युः प्रथमे प्रत्यगात्मनः ।
द्वितीये निर्णयो ज्ञेयो ऽचित्स्वरूपस्य संग्रहः ॥१॥
तृतीये भण्यते तत्त्वं परेशस्य यथागमम् ।
संप्रदायानुसारेण सिद्धान्तश्च समासतः ॥२॥
चतुर्थे तदुपायस्य पञ्चमे सहकारिणः ।
षष्ठे विरोधिनो रूपं चरमे फलनिर्णयः ॥३॥
एतावान्सर्वशास्त्रार्थः पूर्वाचार्य्यैर्निरूपितः ।
सनन्दनपदद्वन्द्वानुगैर्ज्ञेयो हि वैष्णवैः ॥४॥
अध्यात्माख्यसुधानद्यां वैष्णवैर्यत्नतोऽनिशम् ।
संसारतापशान्त्यर्थं प्लवनीयं मुमुक्षुभिः ॥५॥

प्रस्तुत **अध्यात्मसुधातरङ्गिणी** ग्रन्थ में सात तरङ्ग हैं । प्रथम तरङ्ग में जीवात्मतत्व के स्वरूप-लक्षण-भेदों का संग्रह है । द्वितीय तरङ्ग में भोग्य पदार्थ अचेतन तत्व के स्वरूप लक्षण भेद वर्णित हैं । तृतीय तरङ्ग में आगमशास्त्रों के अनुरूप परमात्म तत्व का निरूपण किया गया है । साथ ही सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है ।

चतुर्थ तरङ्ग में प्रमुख साधनतत्त्व तथा पञ्चम तरङ्ग में सहयोगी साधनों का संग्रह है । षष्ठ तरङ्ग में विरोधी तत्त्वों का स्वरूप, सप्तम तरङ्ग में मोक्ष का निर्णय किया गया है । इस प्रकार श्रुति-स्मृति-सूत्रों में निर्दिष्ट सिद्धान्त का पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित हुआ है । सनकादि महर्षियों से देवर्षि नारद को एवं देवर्षि श्रीनारद से भगवन्निम्बार्काचार्यजी को प्राप्त हुए सिद्धान्त का ज्ञान समस्त वैष्णव जनों को आचार्य परम्परानुगत होकर ग्रहण करना चाहिये ।

भवबन्धन से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले समस्त वैष्णवजनों को सांसारिक विविध तापों की शान्ति के लिए निरन्तर यत्न पूर्वक इस अध्यात्म सुधा रूपी पावन नदी में अवगाहन करना चाहिये ।

स च पदार्थमात्रेण निर्णीयते विशेषविस्तारस्तु तत्र तत्र पूर्वैः कृतत्वादेव, अथ ग्रन्थारम्भे सदाचारप्राप्तं ग्रन्थनिर्विघ्नसमाप्त्यर्थं स्वेष्टदेवताश्रयणरूपमङ्गलमाचरति--

उक्त सिद्धान्त का ग्रन्थान्तरों में विस्तार से वर्णन हुआ है । यहाँ तो सरलता से पदार्थ बोध हेतु संक्षेप में ही निरूपण किया जा रहा है । अब ग्रन्थारम्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए शिष्ट जनों द्वारा समाचरित **मङ्गलादिनि मङ्गलान्तानि शास्त्राणिप्रथन्ते** इत्यादि वचनों के अनुरूप नमस्कारान्तर्गत स्व-इष्ट देवता के समाश्रयण रूप मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हैं ।

श्रीमुकुन्दं जगद्योनिं निर्दोषं सद्‌गुणार्णवम् ।
ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादिवन्द्यं नित्यं समाश्रये ॥१॥

श्रीमुकुन्दं नित्यमहं समाश्रय इत्यन्वयः, समाश्रयणं च शरीरवाङ्मनोवृत्तीनामैक्यमत्या सदैव तत्प्रवणीकरणं, मुक्तिं ददातीति मुकुन्दः संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरिति श्रुतेः,

स्कान्दे

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः ।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥

हरिवंशे

ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देवसंनिधौ ।
मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः ।।
मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।
तस्माद्गत्वा तु बदरीं तत्राऽऽराध्य जनार्दनम् ।।
मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे ।

गीतं च

मोक्षयिष्यामि मा शुच इत्यादिस्मृतेः **तन्निष्ठस्य मोक्षव्यपदेशा** दिति सूत्राच्च मुमुक्षुभिर्मुकुन्द एव उपासनीयो नाऽन्यः अप्रयोजकत्वादिति भावः।

मुक्ति देने वाले भगवान् श्रीमुकुन्द का मैं नित्य समाश्रयण करता हूँ। समाश्रयण का तात्पर्य है--शरीर, वाणी, मन की वृत्तियों की ऐक्य बुद्धि से सदा ही प्रभु में समर्पित होना । **संसार बन्धस्थितिमोक्षहेतुः** यह श्रुति वचन इसमें प्रमाण है । अपनी दुरत्यय माया के प्रभाव से समस्त जीवों को संसार बन्धन में पहुँचाना और अपनी अहैतुकी कृपा से उनको बन्धन मुक्त कराना ही जिनकी विचित्र लीला है । स्कन्द पुराण में इसी श्रुति के भाव को स्पष्ट किया है--जन्म-मरणादि भवपाश से बाँधने और उससे छुडाने वाले तथा प्रपन्न जनों को मोक्ष प्रदान करने वाले सनातन परब्रह्म भगवान् विष्णु ही हैं । यहाँ एवकार से अन्य देवों का व्यवच्छेद किया है ।

इसी प्रसङ्ग में हरिवंश पुराण के इतिवृत्त को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है । उसका आशय है--एकबार घण्टाकर्ण दैत्य ने मोक्ष की कामना से भगवान् शिव की आराधना की, विष्णु का नाम भी कान से सुनाई न पड़े, इसके लिए कान में घंटा बांध रखा था, नाम पड़ा घंटाकर्ण । तपस्या से प्रसन्न होकर शिव प्रगट हुए, वरदान मांगने को कहा--दैत्य ने प्रभु की स्तुति करते हुए मोक्ष की याचना की । विष्णु के प्रति उसकी विद्वेष बुद्धि देखकर महादेवजी ने कहा--वत्स ! मोक्षदाता तो एकमात्र नारायण हैं, उन्हीं की आराधना करो । शिव की आज्ञा से घंटाकर्ण ने बद्रिकाश्रम में

विद्वेष त्यागकर भक्ति पूर्वक भगवान् नारायण की उपासना की । श्रीहरि ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया ।

मुसकुराते हुए बोले--दैत्यराज ! उठो क्या चाहते हो ?, तब उसने अपना भाव प्रकट किया--

देव ! मोक्ष प्राप्ति के लिए मैंने शिव की आराधना की, शिव ने प्रगट होकर पूछा क्या चाहिए ?, मैंने उनसे मोक्ष की याचना की । इस प्रकार मुक्ति की प्रार्थना करते हुए मुझे त्रिलोचन ने आज्ञा दी, वत्स ! समस्त जीवों को मुक्ति प्रदान करने वाले श्रीविष्णु ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । अतः तुम बद्रिविशाल जाकर श्रीजनार्दन प्रभु की आराधना कर उन्हीं से मुक्ति प्राप्त करो । लोक कल्याण हेतु नरनारायण भगवान् वहाँ स्वयं तपश्चर्या करते हैं । समस्त वेदादि शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय भी वे ही हैं । तदनुसार घण्टाकर्ण को प्रभु ने मोक्ष प्रदान किया ।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्वयं आज्ञा करते हैं--हे अर्जुन तुम शोक मत करो । सम्पूर्ण पापों और भवबन्धनों से मैं तुम्हें मुक्त करूँगा । ब्रह्मसूत्र में भी कहा है--भगवन्निष्ठ जीव मोक्ष का भागी होता है । अतः मुमुक्षुजनों को सर्वतोभावेन भगवान् श्रीमुकुन्द की ही उपासना करनी चाहिए अन्य की नहीं । उक्त प्रसङ्ग के अनुसार अन्य समाश्रयण मोक्ष हेतु अप्रयोजक सिद्ध होता है ।

समाश्रयणे हेतुमाह सद्गुणार्णवमिति, सतां कल्याणरूपाणां ज्ञान-शक्तिवलैश्वर्य्यवीर्य्यादीनां कारुण्यवात्सल्यसौशील्यादीनां च गुणानां स्वा-भाविकयावदात्मवृत्तीनां ह्यर्णवम् "यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यकामः सत्य-संकल्पः" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलकिया चे" तिश्रुतेः, ननु गुणवत्त्वेऽपि दोषयोगे कथं समाश्रयणीय इति चेत्तत्राऽऽह निर्द्दोषमिति, निर्गताः सर्वे दोषा यस्मात्तं, "य आत्मा अपहतपाप्मे-त्यादिश्रुतेः", ननु गुणवत्त्वनिर्द्दोषत्वयोः सतोरपि तदधिकस्य सत्त्वे समाश्रयणीयत्वायोगादिति चेत्तत्राऽऽह जगद्योनिमिति,

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतेः चेतनाचेतनस्य जगतो निमित्ताभिन्नोपादानत्वात् सर्वोत्तमत्वसिद्धिरिति भावः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिरिति श्रुतेः,

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

इति स्मृतेश्च ।

भगवान् श्रीमुकुन्द के समाश्रयण में कारण है सद्गुणार्णवता । भगवान् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, कारुण्य, वात्सल्य, सौशील्य आदि अनन्त कल्याणरूपी दिव्य सद्गुणों तथा अपनी स्वाभाविक सकल शक्तियों के सागर हैं । श्रुति कहती है "जो सर्वज्ञ है, सब कुछ प्राप्त करने वाला है, जिसकी कामनाएँ सत्य हैं, संकल्प भी सत्य है, जो जीवों को यत्किञ्चित् आनन्द प्राप्त होता है वह सब उन्हीं परब्रह्म से प्राप्त होता है।" "ज्ञान, बल, क्रिया आदि के भेद से जो नाना विध शक्तियाँ श्रुतियों में बतायी गयी हैं वे सब इनकी स्वाभाविकी परा (स्वरूप) शक्तियाँ हैं ।

अब यहाँ पर जिज्ञासा होती है कि परमात्मा सर्वगुणयुक्त होने पर भी उसमें यदि दोष भी रहेंगे तो वह समाश्रयणीय नहीं हो सकेगा ?, इसका समाधान करते हुए कहते हैं--"निर्दोषम्" अर्थात् निकल गये हैं समस्त दोष जिनसे । जैसे अग्नि, सूर्य आदि में अन्धकार रूप दोष स्वतः निवृत्त है उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या आदि दोष स्वतः निवृत्त हैं । "य आत्मा अपहतपाप्मा इत्यादि श्रुति वचन इसमें प्रमाण हैं ।

गुणवान् और निर्दोष होने पर भी यदि उससे अधिक अन्य कोई हो तो क्या करें ? इस आशंका पर कहते हैं "जगद्योनिम्" अर्थात् "जिनसे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिनसे पालित और संहृत होते हैं, जिनको प्राप्त होते हैं" इत्यादि वाक्याशय से जो स्वर्णालङ्कार, अहिकुण्डल की तरह इस चराचर जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं, शक्ति विक्षेप परिणाम ही ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति है । अतः समस्त देवों में श्रीविष्णु ही सर्वोत्तम हैं । क्योंकि "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः" अर्थात् जीव और जगत् परमात्मा के ही अधीन

है । "गीता में क्षर और अक्षर से परे होने के कारण लोक और शास्त्र में श्रीकृष्ण को पुरुषात्तेम कहा गया है ।

ननु ब्रह्मादेरपि जगत्कारणत्वेन प्रसिद्धत्वात् तत्साम्यस्य विद्यमाने आश्रयणीयत्वस्याऽपि योगो दुर्वारः कथमेकस्यैव समाश्रयणीयत्वमित्याशङ्क्य न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते इत्यादि श्रुत्यर्थकथनेन समादधन्नाह ब्रह्म-रुद्रमहेन्द्रादिवन्द्यमिति "यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षुवो ब्रह्मवादिनश्चेतिश्रुतेः तेषामपि जन्यत्वात् तच्छिष्यत्वात् तदाराधकत्वात् तद्दत्तैश्वर्य्यवत्त्वाच्च न तत्साम्यशङ्कावकाश इत्यर्थः तच्चोपरिष्टान्निपुणं वक्ष्यते ॥१॥

पुनः जिज्ञासा करते हैं--इस त्रिगुणात्मक जगत् के प्रति ब्रह्मा और रुद्र भी सृष्टि तथा संहार के प्रसिद्ध कारण हैं, अतः उनकी भी समानता हुई, ऐसी स्थिति में ब्रह्मादि देवों का भी समाश्रयण होना चाहिए क्योंकि एक ही मुकुन्द का समाश्रयण बताते हैं ? इसका समाधान करते हैं "ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि-वन्द्यम्" ब्रह्म, रुद्र, महेन्द्र आदि देवाधिदेवों के भी वन्दनीय हैं । "न तत्सम-श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" अर्थात् श्रीनारायण के समान किंवा अधिक कोई भी देवता नहीं दिखाई देता । इत्यादि वेद वचनों से भगवान् श्रीहरि मुकुन्द ही सर्वोत्कृष्ट हैं । "यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षुवो ब्रह्मवादिनश्च" जिनको समस्त देवता, मुमुक्षुजन, ब्रह्मवादी महर्षिगण भी सदा नमन करते हैं । "यो ब्रह्माणं विदधति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यादि प्रमाणों से श्रीहरि ही ब्रह्मादि देवों के जनक हैं, उपदेशक हैं । वे सब श्रीहरि की उपासना करते हैं, उन्हीं के द्वारा प्रदत्त ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं । अतः उनके साम्य की शंका नहीं करनी चाहिए । इसको आगे स्पष्ट करेंगे ॥१॥

तत्त्वज्ञानाय मन्दानां तुष्ट्यर्थे तत्त्वदर्शिनाम् ।
श्रीनृसिंहप्रसादार्थं तन्यते कारिकावली ॥२॥
प्रत्यक्तत्त्वं समासेन तत्राऽऽदौ भण्यते मया ।
संप्रदायानुसारेण शास्त्राचार्य्योक्तयुक्तिभिः ॥३॥

स्पष्टार्थौ ॥२-३॥

मन्द बुद्धि वालों को वेदान्त तत्त्व का बोध कराने, तत्त्व ज्ञानियों की प्रसन्नता के लिए तथा श्रीनृसिंह देव की कृपाप्रसाद प्राप्ति हेतु वेदान्त कारिकावली की रचना की जा रही है । उसमें सर्वप्रथम जीव तत्त्व का निरूपण सम्प्रदायानुसार शास्त्रों एवं आचार्यों की युक्तियों के आधार पर संक्षेप से किया जा रहा है ।

तत्र तावज्जीवात्मतत्त्वं सामान्यविशेषाभ्यां निरूप्यते--

अब सामान्य और विशेष रूप से जीव तत्त्व का निरूपण करते हैं ।

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिभ्यो विलक्षणाः ।
ज्ञानस्वरूपा ज्ञातारो ह्यहमर्थाश्च ते मताः ॥४॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणादियों से विलक्षण चैतन्य स्वरूप तथा चैतन्य के आधार अर्थात् धर्मभूत ज्ञान के आश्रय एवं अहमर्थ के विषय जीव माने गये हैं । बहुवचन के निर्देश से वे अनन्त हैं । यह सामान्य श्लोकार्थ है ।

तत्र केचिद्देह एवाऽऽत्मेत्याहुः तन्न मृते शरीरे चैतन्यानुपलब्धेः भौतिकत्वाच्च, देहो नाऽऽत्मा भौतिकत्वात् घटादिवदिति प्रयोगात्, अन्ये इन्द्रियाण्येवाऽऽत्मेत्याहुः तन्न स्वप्नादौ तल्लयदर्शनात् करणत्वाच्च, इन्द्रियगणो नाऽऽत्मा करणत्वात् वास्यादिवदिति, एके मनस एवाऽऽत्मत्वं भावयन्ति तदसत् सुषुप्तौ तस्याऽपि लयात् अन्तःकरणत्वाच्च, मनो नाऽऽत्मा सुषुप्त्यादौ ह्यननुगतत्वात् देहादिवत् करणत्वाच्च चक्षुरादिवदिति, एवमेव बुद्धेरप्यनात्मत्वमनुमेयम् अन्तःकरणत्वाविशेषात्, अन्येप्राण एवाऽऽत्मेत्यवगच्छन्ति सर्वावस्थानुगतत्वेन हेतुना, तन्न, सुषुप्त्यादौ प्राणस्य सत्त्वेऽपि चौरैर्भूषणादिहरणदर्शनात् प्राणस्याऽचैतन्यनिश्चयः वायुत्वाच्च, प्राणो न चेतनः वायुत्वात् व्यजनजन्यवायुवदित्यादिप्रमाणमाश्रित्याऽऽह,

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिभ्यो विलक्षणाः

इति, द्वन्द्वसमासः आदिशब्दः अहश्चित्तप्रकृत्यादिजडवर्गसंग्रहार्थः ।

इसका विस्तृत विवेचन करते हैं--जीव के स्वरूप तथा लक्षण के विषय में लोकायत दर्शन अर्थात् चार्वाक मत के अनुयायी कहते हैं-पृथ्वी, जल, तेज, वायु इस भूतचतुष्टय का परिणाम रूप स्थूल शरीर ही आत्मा है "चैतन्य विशिष्टो देह आत्मा" उनका सूत्र है । उनका यह कथन उचित नहीं है क्योंकि, मृत शरीर में चैतन्य की उपलब्धि नहीं है । भूतचतुष्ट जड है । अनुमान प्रकार से उक्त सिद्धान्त का निराकरण करते हैं "देह आत्मा नहीं है, भौतिक होने से, घटादि की तरह तात्पर्य है जैसे घटादिपदार्थ पृथिवी आदि जडवस्तु से निर्मित होने से जड है उसी प्रकार स्थूल शरीर भी पृथिवी आदि का विकार होने से मूर्तरूप जड ही है, आत्मतत्त्व उससे विलक्षण अव्यक्त (अमूर्त) है ।

कुछ अन्य लोग अमूर्त रूप इन्द्रियों को ही आत्मा कहते हैं क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा विषयानुभूति होती है । अनुभव करना आत्मा का धर्म है । यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के रहने पर भी वाह्य ज्ञान नहीं होता इन्द्रियाँ लीन (बोधहीन) रहती है । ये केवल साधन रूप है । अनुमान प्रयोग है--"इन्द्रिय समूह आत्मा नहीं हो सकता करण (साधन) होने से कुल्हाडी आदि की तरह ।

कुछ लोग मन को ही आत्मा बताते हैं मन की एकाग्रता से ही इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है, यह कथन भी सत्य नहीं है । सुषुप्ति अवस्था में मन का भी लय देखा गया है । अन्तःकरण होने से वह भी इन्द्रियों की तरह करण ही है । अनुमान प्रयोग है--मन आत्मा नहीं है, सुषुप्ति अवस्था में देह की तरह चेतन के साथ अनुगत नहीं रहता करणतत्व होने से चक्षुरादि इन्दियों के समान ही है । इसी प्रकार बुद्धि को भी अन्तःकरण रूप होने से आत्मा नहीं मान सकते । कुछ विचारकों का मानना है कि देहेन्द्रियादि भले ही आत्मा न हों किन्तु प्राण तो आत्मा हो सकते हैं । अन्य इन्द्रियों के स्वप्नादि में लय होने पर भी प्राणों का लय तो नहीं होता । वे तो सभी अवस्थाओं में अनुगत हैं । यह विचार भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि

सुषुप्ति आदि अवस्था में प्राणों के अनुगत रहने पर भी चोरों के द्वारा भूषण आदि वस्तुओं का अपहरण हो जाता है ज्ञान नहीं होता। आत्मा का धर्म तो ज्ञान है। अतः प्राण भी अचैतन्य हैं वायु होने से। अनुमान प्रयोग- प्राण चेतन नहीं है वायु रूप होने से पंखा आदि से उत्पन्न वायु के समान। इस प्रकार देह से प्राण पर्यन्त तत्त्वों का जड रूप होने से इनको आत्मा नहीं मान सकते अतः आत्मा का लक्षण किया--"देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिभ्यो विलक्षणाः" यहाँ पर आदि शब्द अहंकार, चित्त प्रकृति आदि जडवर्ग के संग्रह हेतु प्रयुक्त है। द्वन्द्व समास होने से प्रत्येक पदों का अपना-अपना स्वतन्त्र अर्थ है।

तैतिरीय उपनिषद् में पांच प्रकार के कोश (पुरुषाकार) का मनोहर वर्णन किया है--"तस्माद् वा एतस्माद् इत्यादि" इसका भाव है--दृश्यमान इस स्थूल शरीर को अन्नरससमय पुरुष (कोश) कहा गया है। उस अन्नरस-समय स्थूल शरीर से भिन्न उसके भीतर रहने वाला एक अन्य प्राणमय पुरुष (कोश) है जो अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है। उस प्राणमय पुरुष (कोश) से भिन्न उससे भी सूक्ष्म मनोमय पुरुष (कोश) है। मनोमय कोश प्राणमय कोश में व्याप्त रहता है। वही बुद्धि का भी स्थान है। उस मनोमय पुरुष (कोश) से भिन्न उससे भी सूक्ष्म बुद्धि रूपी गुफा में रहने वाला विज्ञानमय पुरुष (कोश) ही जीवात्मा है। विज्ञानमय कोश से परे आनन्दमय कोश बताया गया है वही साक्षात्परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप कहा है।

"तस्माद्वा एतस्मादन्नमयादन्यः तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्यः तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय" इत्यादिश्रुतेः,

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे
इति श्रीभगवदुक्तेश्च।

(श्रुति प्रतिपादित पञ्चकोशो का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बतलाते हैं--"उस अन्नमय कोश, से भिन्न उस प्राणमय कोश से भिन्न, उस मनोमय कोश से भी भिन्न जो अन्तरात्म स्वरूप विज्ञानमय कोश कहा है वही जीवात्मा है" इस श्रुति से) तथा जीव को जन्म, मरण, अस्तित्व, बृद्धि, परिणाम, अपक्षय, इन छः विकारों से रहित कहा गया है । भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को चित् अचित् के विवेक के प्रसङ्ग में औपनिषद सिद्धान्त का उपदेश किया है--हे अर्जुन ! यह जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है न कभी मरता है, यह इसलिए कि पूर्व में होकर पीछे नहीं होगा ऐसा नहीं है । जो पहले न होकर पीछे होता है उसी को जन्म कहते हैं जो पहले विद्यमान रहकर पीछे नहीं रहता उसे मरना कहते हैं । आत्मा पूर्व में भी था इसलिए उत्पन्न नहीं हुआ, पीछे भी रहेगा इसलिए मरता नहीं । इसलिए अज और नित्य है । इन दोनों शब्दों से आत्मा को जन्म - मरण रूप दो विकारों से रहित बतलाया । आत्मा शाश्वत् अर्थात् सनातन है, प्राकृत पदार्थों के समान सत्, असत् परिणाम वाला नहीं है । अतः "अस्तित्व" रूप तीसरे विकार से भी रहित है। चौथा विकार "बृद्धि" भी आत्मा में नहीं हैं । क्योंकि वह पुरातन होते हुए भी नित्यनवीन और अवयव हीन कूटस्थ है । इसलिए आत्मा की बृद्धि सम्भव नहीं है । शेष दो विकार परिणाम और अपक्षय भी आत्मा में नहीं है । बृद्धि न होने से अदल बदल और नाश सम्भव नहीं है । इस प्रकार आत्मा षड् विकार शून्य शुद्ध चैतन्य है यह सिद्ध हुआ ।

देहादिभिन्ना ज्ञानेच्छादिगुणाश्रया विभवोऽसंख्येया अचेतना आत्मानो द्रव्यविशेषा इतितार्किकादीनामपि राद्धान्तत्वात्तत्राऽतिव्याप्ति-वारणाय विशेषणमाह ज्ञानस्वरूपाइति, ज्ञानं चेतनं स्वरूपं येषां ते तथा, "यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरे अयमात्मा-ऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती" तिश्रुतिभ्यः ।

देहादिभिन्न, ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नादि गुणों के आश्रय भूत, विभु-परिमाण, असंख्य, अचेतन द्रव्यविशेष आत्मा हैं यह नैयायिकों का सिद्धान्त

है, उसमें अति व्याप्ति वारण के लिए दूसरा विशेषण दिया "ज्ञानस्वरूपा" इति । अर्थात् ज्ञान चेतन स्वरूप है जिनका ऐसे जीव । श्रुति प्रमाण दर्शाते हैं यथा सैन्धवधनः इत्यादि - "जिस प्रकार नमक का डेला बाहर भीतर सर्वत्र रसमय ही होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी बाहर भीतर ज्ञानमय होता है ।" यह जीवात्मा स्वयं प्रकाश होता है । अर्थात् उसको प्रकाशित किंवा चैतन्य करने के लिए किसी साधनान्तर की अपेक्षा नहीं है । इससे ही तार्किकों का अचेतनत्व मत निरस्त हुआ । "अणुर्ह्येष आत्मा" आत्मा अणु परिमाण वाला है इस प्रमाण से उनका विभुत्ववाद भी निरस्त होता है ।

नन्वेवं मायावादिसिद्धान्ते ऽतिप्रसङ्गस्तैरपि देहेन्द्रियाद्विजडवर्गात्यन्तभिन्नज्ञानस्वरूपत्वमात्मनः स्वीकारादित्याशङ्क्य विशेषणान्तरमाह ज्ञातारइति, जानन्तीति ज्ञातारः नित्यधर्मभूतज्ञानाश्रया इत्यर्थः, "योऽयं वेद जिघ्राणीति स आत्मा कतम" इत्युपक्रम्य "पुरुषो द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः विज्ञातारमरे केन विजानीयात् जानात्येवाऽयं पुरुषः न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्, न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्, न हि मन्तुर्मतेर्न हि विज्ञातुर्विज्ञातेः अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" इत्यादिश्रुतिभ्यः, "ज्ञोऽत एवे" ति सूत्रात्,

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।

इति श्रीमुखोक्तेश्च, कर्तृत्वादीनामप्युपलक्षणं "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वा" दितिसूत्रात् ।

यदि उक्त प्रकार ही आत्मा का लक्षण माना जाय तब तो मायावादी भी जीव स्वरूप देहेन्द्रियादिजड वर्गों से अत्यन्त भिन्न ज्ञानमय बताते हैं, उनके सिद्धान्त में उक्त लक्षण का अति प्रसङ्ग हो जायेगा ? इस आशंका को ध्यान में रखकर अन्य विशेषण दिया है-"ज्ञातारः" इति । जानन्ति इति ज्ञातारः--अर्थात् जो जानते हैं वो ज्ञाता कहलाते हैं । फलितार्थ हुआ, नित्यधर्मभूत ज्ञान के आश्रय । योऽयं वेद इत्यादि .... "अर्थात् जो यह जानता है, सूंघता है ऐसा वह आत्मा कौनसा है इत्यादि उपक्रम करके

आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है कि--क्षेत्रज्ञपुरुष ही भोक्ता है वही देखने वाला, सुनने वाला, रस लेने वाला, सूंघने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला विज्ञानमय पुरुष कहलाता है । उस ज्ञाता को जानने के लिए किसका माध्यम चाहिए । वह स्वयं जानता है । वह अन्य निरपेक्ष ज्ञान वाला है । अविनाशी होने से उस स्वयं द्रष्टा का दृष्टि विपरिलोप नहीं होता, इसी प्रकार उसको श्रवण, (कान) मन, बुद्धि आदि का कभी विपरिलोप नहीं होता । यह आत्मा अविनष्ट धर्म वाला अविनाशी है" यह श्रुति प्रमाण है । "ज्ञोऽत एव" इस ब्रह्मसूत्र से भी जीवात्मा को ज्ञाता ही कहा गया है इसी प्रकार स्मृति प्रमाण में भगवद्गीता -- जो इस शरीर रूप क्षेत्र को अच्छी तरह जानता है उस आत्मा को तत्त्व ज्ञानी जन क्षेत्रज्ञ कहते हैं । इसी प्रकार "कर्ताशास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि सूत्र से कर्तृत्व भो क्तृत्व आदि का भी संग्रह समझना चाहिए ।

ननु ज्ञानस्य ज्ञानाधारत्वमनुपपन्नमिमितिचेन्न मणिद्युमण्यादौ प्रत्यक्षेण धर्मिधर्मयोर्भेदग्रहणात्, विशेषविचारश्च सिद्धान्तरत्नमञ्जूषादौ द्रष्टव्यः, अथ तेषां स्वरूपमाह अहमर्थाश्च, अहमित्यस्य प्रत्ययस्य विषय एवाऽर्थः स्वरूपं येषां ते, तत्र प्रमाणमाह ते मता इति, प्रत्यक्षादिप्रमाणनिर्णीता इत्यर्थः ॥४॥

अब यहाँ विचारणीय है कि जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप और ज्ञान का आधार भी कहा गया है, यह उचित नहीं है क्योंकि जो स्वयं ज्ञानमय है वह ज्ञान का आधार कैसे हो सकेगा ? इस आशंका का उत्तर देते हैं--जिस प्रकार मणि और सूर्य स्वयं प्रकाशमय होते हुए भी प्रकाश के आधार हैं और समुद्र स्वयं जलमय होते हुए भी जल का आधार है उसी प्रकार आत्मा स्वयं चैतन्य ज्योतिर्मय होने पर भी धर्मि धर्म भाव से ज्ञान (चैतन्य) का आधार ज्ञाता भी है ही । धर्मी भूत जीव स्वरूपतः सूक्ष्म है किन्तु अपने धर्मभूत ज्ञान की व्यापकता से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है । जैसे सूर्य एकेदेशस्थ रहकर भी समस्त भुवनों को प्रकाशित करता है वैसे ही जीवात्मा

शरीरैक भाग में स्थित रहकर सम्पूर्ण शरीर को चैतन्य बनाता है । इसी धर्मि-धर्म भाव को भेदाभेद की संज्ञा दी है । चिदचित् का ब्रह्म के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है । इसका विस्तृत विवेचन **वेदान्तरत्नमञ्जूषा** में द्रष्टव्य है । "तत्वमसि" इस उपदेश महावाक्य में तत्पद से ब्रह्म और त्वं पद से जीव का निर्देश है, "अहं ब्रह्मास्मि" इस अनुभव वाक्य में अहं पद से जीव, ब्रह्म पद से परमात्मा निर्दिष्ट है । "त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः" इस वाक्य मे त्वं पद परब्रह्म का वाचक है, "अहं त्वा सर्व पापेभ्यः" इसमें अहं पद परब्रह्म वाचक है । अतः तत् - त्वं-अहं-इदम् इत्यादि पद चिदचिद् ब्रह्म के प्रकरणानुसार वाचक हैं । उक्त शास्त्रवचनों के अनुसार जीव अहमर्थ के भी विषय है । यहाँ पर जीवों को बहुवचन से निरूपित किया गया है अतः एक जीववाद निरस्त हुआ, ते मताः अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निर्णीत हैं ॥४

तान्येव प्रमाणानि दर्शयति--

अब उन प्रमाणों का दिग्दर्शन किया जा रहा है--

सर्वावस्थानुगत्या वै प्रत्यक्षागममानतः ।
मुक्तानामनुभूत्या चाऽनुमानेनाऽपि निश्चयात् ।
प्रतिबिम्बादिवादश्च पापीयानप्रमाणतः ॥५॥

प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान प्रमाणों से, मुक्त जीवों के अनुभव से, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मुक्ति आदि सभी अवस्थाओं में अनुगत रहने से जीव का अहमर्थ स्वरूप निश्चित होता है । प्रमाणों के अभाव में केवल तर्कों के आधार पर प्रति-बिम्ब, अवच्छेद आदि वाद हेय है । यह पद्यों का सामान्य अर्थ हुआ । विशेष अर्थ का निरूपण करते हैं --

अयं भावः, प्रमाणं तावत्त्रिविधं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात्, तत्र विषयेन्द्रियसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं हरिगाथां शृणोमि श्रीजगन्नाथं पश्यामि भगवन्निर्माल्यगन्धं जिघ्रामीत्यादि, तत्रेन्द्रियसंनिकर्षमेव प्रत्यक्षप्रमाणं, व्याप्तिजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानं, व्यभिचारशून्यत्वे सति साहचर्य्यनियमो व्याप्तिः, सा द्विधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्, तत्रहेतुसाहचर्य्यनियमेऽन्वयव्याप्तिः यत्र धूमस्तत्राऽग्निरिति, साध्याभाव-

साधनाभावसाहचर्य्यनियमो व्यतिरेकव्याप्तिः यत्र वह्न्यभावस्तत्र धूमाभाव इत्यादि, आप्तवाक्यं शब्दः, आप्तो नाम यथार्थवक्ता निर्दोषबुद्धिः, तत्राऽऽप्ततमो वेदः, तदर्थस्मर्तारो मन्वादय आप्ततराः, उभयार्थकारा आप्ता, एतेषां वाक्यं प्रमाणं, तत्र प्रत्यक्षानुमानयोः क्वचिद्व्यभिचारदर्शनात् शास्त्रसापेक्षप्रमाणत्वं, शास्त्रस्य तु अव्यभिचरितविषयकत्वात् निरपेक्षप्रमाणत्वमिति विवेकः, अन्येषामुपमानादीनामत्रैवाऽन्तर्भावात् त्रीण्येव प्रमाणानि, तथा चाऽऽह भगवान्मनुः--

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च निगमाभिधम् ।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सतेति ॥

उपर्युक्त पंक्तियों का भाव यह है कि-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द के भेद से वेदान्त दर्शन में प्रथमतः तीन ही प्रमाण स्वीकृत किये गये हैं । उन तीन प्रमाणों में विषय और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । जैसे--मैं हरि कथा सुन रहा हूँ श्रीजगन्नाथ को देख रहा हूँ, भगवच्चरणों में समर्पित तुलसी पुष्पादि प्रसाद के सौरभ को सूंघता हूँ, इत्यादि में इन्द्रिय सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष प्रमाण हो गया ।

व्याप्तिजन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । अनुमिति ज्ञान का असाधारण कारण अनुमान है । पक्ष-साध्य-हेतु-दृष्टान्त ये चार अनुमान के साधन है । व्यभिचार शून्य साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं । अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति से व्याप्ति के दो भेद हैं । "जहाँ धूवां है वहाँ अग्नि है" इस प्रकार हेतु रूप धूम के साहचर्य में अग्नि की सत्ता अन्वय व्याप्ति कहलाती है । (तत्सत्वे तत्सत्ता इत्यन्वयः) जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम का भी अभाव है, इस प्रकार साध्य रूप अग्नि के अभाव साहचर्य में साधन रूप धूम का अभाव व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है । (तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः)

आप्त वाक्य को शब्द कहते हैं । अर्थात् यथार्थ वक्ता निर्दोष बुद्धि वाले पुरुष को आप्त कहा गया है। जो कभी अपने पराये की भेद बुद्धि से राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होता और मिथ्या नहीं बोलता वह आप्त है ।

लोक में साधारण जन प्रमाण रूप में उसे ही स्वीकार करते हैं । उनमें भगवान् वेद आप्ततम है । वेदार्थ का स्मरण कर स्मृति शास्त्र का निर्णय करने वाले मनु आदि आप्ततर हैं । वेद और स्मृति के भाष्यकार आचार्य आप्त हैं । इन सबके वाक्य परम प्रमाण हैं । व्याधिजन्य विकारों से शंखादि में पीतत्वादि, लवण में मधुरत्वादि की प्रत्यक्षानुभूति हो सकती है, वर्षा से वनाग्नि बुझ जाने पर भी धूम उठता रहता है, ऐसे स्थलों में साधन रूप धूम की विद्यमानता में भी साध्यरूप अग्नि की उपलब्धि नहीं होती अतः सिद्ध है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में कहीं - कहीं व्यभिचार देखा गया है । ये दोनों प्रमाण शब्द सापेक्ष हैं किन्तु शब्द प्रमाण का किसी भी स्थान में व्यभिचार नहीं देखा गया है अतः यह निरपेक्ष प्रमाण है । अन्य उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव होने से तीन ही प्रमाण माने गये हैं यह औपनिषदों का सर्वमान्य मत है । भगवान् मनु भी कहते हैं-धर्म शुद्धि की अभिलाषा रखने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान, निगमा-पर नाम शास्त्र इन तीनों को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करना चाहिए ।

प्रत्यक्षागममानतः, सर्वावस्थानुगत्या निश्चात् अनुमानेनाऽपि मुक्तानामनुभूत्या च निश्चयादित्यन्वयः, तत्रा, ऽहं जानामि शृणोमि जिघ्रामीत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतिभ्यः, किञ्च, नित्यमुक्तस्यैकाऽद्वितीयादिशब्द-प्रतिपाद्यस्याऽपि अहमर्थत्वमुद्घुष्यते श्रुतिभिः "ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् स चाऽऽत्मानंवेदाऽहं ब्रह्माऽऽस्मीति बहु स्यां प्रजायेय नामरूपे व्याकरवाणी" त्यादिभिः, तथा च "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्यादिना तत्साम्यापन्नानां मुक्तानामपि ज्ञात्रभिन्नाहमर्थस्वरूपत्वं मुक्तावपि अहमर्थस्याऽनुगतत्वं सिद्धं "तद्वै पश्यन्नृषिर्वामदेवः अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति मुक्तानामपि तथैवाऽनु-भवश्रवणाच्चापि अस्मत्प्रयोगश्रवणाच्च,

वेदाऽहं समतीतानि वर्त्तमानानि चाऽर्ज्जुन ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

इत्यादिना श्रीभगवद्गीताशास्त्रेऽपि अहं अर्थस्यैव सर्वज्ञत्वजगद्धेतुत्वसर्वशास्त्रविषयत्वमुक्तप्राप्यत्वसर्वपापनिवृत्तिरूपमोक्षदातृत्वादिप्रतिपादनादहमर्थस्वरूप एव श्रीभगवान् वासुदेवस्तथैव क्षेत्रज्ञाश्चेत्यवगम्यते, तथा च प्रत्यक्षागममानतः, प्रत्यक्षागमाभ्यामनुमानेन मुक्तानामनुभूत्या चाऽहमर्थस्य सर्वास्वप्यवस्थासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छाजन्ममरणादिषु नरकस्वर्गापवर्गेषु चाऽनुगतिरनुवृत्तिस्तयाऽऽत्मस्वरूपत्वनिश्चयादितिवाक्यार्थः ।

प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण द्वारा सभी अवस्थाओं में अनुगतत्व निश्चय से तथा अनुमान प्रमाण द्वारा भी मुक्तजीवों के आनन्दानुभूति निश्चय से प्रत्यगात्मा का अहमर्थ होना प्रमाण सिद्ध है । पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस अष्टविध नियम्य वर्ग के अन्तर्गत आने वाला अहं जड़रूप होने से वह स्वतन्त्रतया ज्ञान-श्रवण-दर्शन का कर्ता नहीं हो सकता अतः साधर्म्य भाव से चिदानन्द जीव ब्रह्म ही अस्मदर्थ के विषय हैं । उनमें "मैं जानता हूँ, सुनता हूँ, सूंघता हूँ" इत्यादि प्रत्यक्षानुभूति से, "सृष्टि के आदि में यह चिदचिदात्मक ब्रह्म ही था, वह स्वयं को जानता था मैं ब्रह्म हूँ, एक अद्वितीय होते हुए मैं अनेक बन जाऊँ, स्वयं को प्रकट करूँ, नाम रूप आदि से विभिन्न प्रकार से स्वयं को विभक्त करूँ" इत्यादि श्रुति वचनों से नित्यमुक्त, एक, अद्वितीय, आदि शब्दों का प्रतिपाद्य परमात्मा को भी अहमर्थ रूप बताया है । उसी प्रकार और भी "निरञ्जन आत्मा परमात्मा से साम्यावस्था को प्राप्त होता है" इत्यादि वेद वाक्यों से परमात्मा के साथ साम्यावस्था को प्राप्त हुए मुक्त जीवों का भी ज्ञाता से अभिन्न अहमर्थ रूप होना मोक्षावस्था में भी अहमर्थ का अनुगतत्व सिद्ध है । "परमात्मा के चिदानन्दमय स्वरूप का अवलोकन करते हुए महर्षि वामदेव अनुभव करते हैं मैं मनु हो गया, मैं सूर्य भी हो गया" इस प्रकार मुक्त जीवों का भी उसी प्रकार का अनुभव सुना गया है । वेद माता गायत्री में "धीमहि" इस क्रिया

पद से "आक्षिप्त" "वयं" पद और "धियो यो नः, नः अस्माकम्" इस अस्मद् शब्द के प्रयोग से सिद्ध है कि "अहं" पद चेतन का ही वाचक है ।

"हे अर्जुन मैं अतीत, वर्तमान, भविष्यत् सभी जन्मों को जानता हूँ" मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक हूँ, मुझ सर्वेश्वर से ही समस्त सृष्टि चक्र चलता है, "समस्त वेदादि शास्त्रों का आश्रय वेद्य भी मैं ही हूँ" "हे पार्थ जीव मुझे प्राप्त कर फिर जन्म धारण नहीं करता" मैं तुमको सब पापों से मुक्त कराऊँगा शोक मत करो" इत्यादि भगवद् वचनों से गीताशास्त्र जो प्रस्थानत्रयी का अन्यतम शास्त्र है में भी परब्रह्म के सर्वज्ञत्व, जगदभिन्न निमित्तोपादानकारणत्व, सर्वशास्त्र विषयत्व, मुक्त प्राप्यत्व, सर्वपापनिवारण पूर्वक मोक्षदातृत्व विषयों का प्रतिपादन होने से अहमर्थ स्वरूप ही साक्षात् भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम हैं । वैसे ही साधर्म्य भाव से जीव भी अहमर्थ स्वरूप है ।

अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाणों द्वारा मुक्त जीवों के अनुभव से, जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, जन्म, मरण, नरक, स्वर्ग, मोक्ष आदि सभी अवस्थाओं में अनुवृत्ति होने से अहमर्थ का आत्म स्वरूपत्व निश्चित है । यही वाक्यार्थ का तात्पर्य है ।

ननु चेतनप्रतिबिम्ब एव जीवः यथा एक एव सूर्य्यः अनेकेषु जलपूरितघटेषु प्रतिबिम्बात्मना भाति घटाभावे तदभावः एवमेकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्माऽविद्यान्तः करणरूपेषूपाधिषु प्रतिबिम्बायितं सज्जीवात्मना भिन्नतया प्रतीयते उपाध्यपगमे चैकमेवाऽवशिष्यते, उपाधेश्च कल्पितत्वात्तत्कृत-भेदोऽपि कल्पितः उपमासूर्य्यकादिवदितिन्यायात्,

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति

श्रुतेश्चेति चेत्तत्राऽह प्रतिबिम्बादिवादश्च पापीयानिति, अयं भावः, बिम्बरूपं शुद्धबुद्धनिर्विशेषनित्यमुक्तं चिन्मात्रं सावयवं रूपवन्नवेति, नाऽऽद्यः अवैदिकत्वापत्तेः निर्विशेषाद्वितीयसिद्धान्तभङ्गाच्च, द्वितीये उपाधेरप्यविद्या-

देर्निरवयवत्वनीरूपत्वसाम्यात् निरवयवस्य निरवयवे प्रतिबिम्बत्वानुपपत्तेः, अन्यथा रसादीनां रूपादौ रूपादीनां कालादौ प्रतिबिम्बदर्शनापत्तेः, तस्य चाऽदृष्टश्रुतत्वात् ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, प्रपञ्चात्मक जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है, जीव तो ब्रह्म रूप ही है उसका भिन्न स्वरूप नहीं है । इस प्रकार जीव-ब्रह्म को ऐक्य मानकर जगत् को असत्य और केवल ब्रह्म को ही सत्य बताने वाले केवल अद्वैत सिद्धान्त के अनुगामी मायावादियों का कहना है--

चिदानन्द बिम्ब रूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है । जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक जलपूर्ण घटों में प्रतिबिम्ब भाव से अनन्त रूप में भासित होता है, घट के अभाव में प्रतिबिम्ब का अभाव होता है । इसी प्रकार एक ही अद्वितीय ब्रह्म, अविद्या अन्तःकरण रूप उपाधियों में प्रतिबिम्बित होता हुआ व्यावहारिक दशा में जीवात्मा भिन्न रूप से प्रतीत होता है । उपाधियों के नष्ट होने पर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । उपाधि कल्पित होने से उसके द्वारा किया गया भेद भी कल्पित ही है वास्तविक नहीं है । "उपमा सूर्यकादिवत्" इस ब्रह्मसूत्र द्वारा भी यही भाव स्पष्ट है । एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त होकर एकरूप और अनेक रूपों से दिखाई देता है । जैसे-प्रत्येक जलाशयों में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होकर अनन्त रूप में स्वयं एक रूप में दिखाई देता है । इस श्रुति प्रमाण से भी सिद्ध है जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है । इस पर सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आपका कथन युक्ति संगत नहीं है । प्रतिबिम्बादिवाद शास्त्र प्रमाण रहित होने से सर्वथा हेय है । क्योंकि - आपका बिम्बरूप से अभिमत शुद्ध, बुद्ध, निर्विशेष, नित्यमुक्त चिदानन्द ब्रह्म अवयव वाला और रूप-आकृति वाला है या नहीं ? यह प्रष्टव्य है । यदि आप ब्रह्म को अवयव तथा रूप वाला मानते हैं तब तो आपके सिद्धान्त में वेद विरुद्धता आ जावेगी । साथ ही निर्विशेषत्व अद्वितीयत्व आदि सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा । यदि निरवयव और रूप रहित मानते हैं तो उपाधि का भी कोई अवयव या रूप नहीं है । दोनों वस्तु निर-

वयव और आकार हीन होने से तुल्य हुई । नीरूप, निरवयव वस्तु का नीरूप निरवयव पदार्थ में प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता । अन्यथा रसादि का रूपादि में, रूपादि का कालादि में प्रतिबिम्ब होने लगेगा । ऐसा आज तक न तो कहीं देखा गया है न सुना गया है ।

किञ्च चित्प्रतिबिम्बग्राहकोपाधिः सत्यो मिथ्या वा, नाऽऽद्यः द्वैतापत्तेः अद्वैतसिद्धान्तभङ्गात् अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् अपसिद्धान्तप्रसङ्गाच्च, नाऽपि द्वितीयः मिथ्याभूतोपाधौ सत्यज्ञानरूपस्य प्रतिबिम्बानुपपत्तेः, अन्यथा मृगमरीचिकाजलेऽपि सूर्य्यप्रतिबिम्बापत्तेरिति तात्पर्य्यं हृदि निधायाऽह पापीयानिति मुमुक्षुभिर्हेयमित्यर्थः, तत्र हेतुमाह अप्रमाणतः, प्रमाणशून्यत्वात् ।

इस प्रसङ्ग में एक और प्रष्टव्य है कि--चिदानन्द ब्रह्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने वाली उपाधि सत्य है अथवा मिथ्या ! यदि आप उसे सत्य मानते हैं तो ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु के सत्य होने से द्वैतभाव आया जिससे अद्वैत सिद्धान्त भङ्ग हुआ । सत्योपाधि से निबद्ध जीव का कभी मोक्ष भी नहीं होगा । आपके सिद्धान्त में दोषापत्ति भी हुई । यदि उपाधि को मिथ्या मानते हैं तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि उस मिथ्या रूप उपाधि में सत्य ज्ञान रूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ ही नहीं सकता । यदि होने लगे तो बालुकणों में सूर्य किरणों की चमक से हरिणों को जल की भ्रान्ति होती है उसमें भी सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखना चाहिए, इस तात्पर्य को मन में रखकर प्रतिबिम्बवाद को पापीयान् अर्थात् मुमुक्षुओं के लिए हेय बताया है । इसमें हेतु दिया है--अप्रमाणतः अर्थात् शास्त्र प्रमाण शून्य होने से उक्त कथन की पुष्टि होती है ।

ननूक्तश्रुतिसूत्रयोस्तत्र मानत्वात्कथमप्रामाण्यमिति चेन्न तयोरन्यार्थपरत्वात्, तथाहि, यथा सूर्य्यः स्वप्रभाव्याप्त्या जलेषु व्याप्य तद्गतशैत्यद्रवत्वादिधर्म्मैर्न लिप्यते, प्रत्युत स्वोष्मणा तान्युष्णीकृत्य प्रकाशयति, यथा वा चन्द्रः स्वकरनिकरेण तेषु व्याप्य तच्छैत्यं वर्द्धयन् प्रकाशयति, न तद्गत-

द्रवेण क्लेदनादिभावं प्राप्नोति, तथैक एव परम पुरुषो विश्वस्मिंश्चेतना-चेतनात्मके जगति स्वस्वरूपेणैव व्याप्य सर्वं प्रकाशयति, तदन्तरात्मतया न च तद्गुणर्दोषैर्लिप्यते,

सूर्य्यो तथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

इत्यादिभिः श्रुतिभिरैकार्थ्यात्, तत्रैकधा समष्ट्यन्तर्यामी बहुधा व्यष्ट्यन्तर्यामीति श्रुतिसूत्रयोर्निर्गलितार्थः, नाऽत्र प्रतिबिम्बवादगन्धोऽपीति भावः।

इस पर भी पूर्व पक्ष का कहना है कि--उपमासूर्यकादिवत्, एक एव हि भूतात्मा---इत्यादि सूत्र और श्रुति को प्रतिबिम्बवाद की सिद्धि हेतु प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, फिर आप इसे प्रमाणहीन क्यों कहते हैं ? तब सिद्धान्तवादी कहते हैं कि आप द्वारा उपस्थापित श्रुति सूत्रों का तात्पर्यार्थ भिन्न है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं--"जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् का नेत्र है किन्तु नेत्रों के बाह्य विकारों से वह लिप्त नहीं होता" उसी प्रकार सर्वान्तिर्यामी, सर्वनियन्ता सर्वेश्वर परमात्मा अपनी अप्रतिम शक्ति से सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी अविद्यादि क्लेश, जन्मादि विकारों से कदापि लिप्त नहीं होता । इस श्रुति के साथ उक्त प्रमाणों का एकार्थ भाव है । जैसे सूर्य अपनी व्यापकता से सकल जलाशयस्थ जलों में व्याप्त होने पर भी उस जलगत शीतत्व - द्रवत्व आदि धर्मों से लिप्त नहीं होता प्रत्युत अपनी उष्णता से उनको उष्ण बनाकर प्रकाशित होता है, जैसे--चन्द्रमा अपनी चांदनी की व्यापकता से उनमें व्याप्त होकर जलगत शीतत्व, द्रवत्व को ही बढाता हुआ चमकता है। जलगत द्रवत्व से गीला नहीं होता, उसी प्रकार एक ही परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत् में अपने स्वरूप से ही व्याप्त होकर सबको ब्रह्मात्मक रूप से प्रकाशित करता है । उस चराचर जगत् में अन्तरात्म रूप से विद्यमान रहने के कारण (काष्ठादि में अग्नि की तरह) जगत् के गुण दोषों से लिप्त नहीं रहता । "एकएव हि भूतात्मा--इस श्रुति में जो "एकधा" शब्द है वह समष्टि अन्तर्यामी के अभिप्राय से है और जो "बहुधा" शब्द है वह व्यष्टि

अन्तर्यामी के अभिप्राय से है । यही उक्त श्रुति सूत्रों का वास्तविक अर्थ है । यहाँ पर प्रतिबिम्ब भाव का गन्ध भी नहीं है ।

आदिशब्दो ऽवच्छेदवादस्याऽप्यप्रामाण्यद्योतकः, तथा हि, येनोपाधिना शुद्धनिर्विशेषनित्यमुक्तचिन्मात्रं ब्रह्माऽवच्छिद्य जीवभावं प्रापितः स उपाधिः परिच्छिन्नो विभुर्वा, नाऽऽद्यः उपाधेर्गमनादौ घटगमने तदवच्छिन्नाकाशवच्चितो गमनानुपपत्त्या पदे पदे बन्धमोक्षौ स्यातां पूर्वदेशावच्छिन्नस्याऽनादिबद्धस्य चेतनस्याऽकस्मान्मोक्षसाधनज्ञानादि विनैव मोक्षः, उत्तरदेशवर्त्तिनित्यमुक्तचेतनस्य निर्हेतुकोऽकस्मादेव बन्धः स्यात्, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, नाऽपि द्वितीयः उपाधेर्विभुत्वेन चेतनस्याऽपि विभुत्वात् कृत्स्नस्याऽप्यवच्छिन्नत्वप्रसङ्गाज् जगदान्ध्यापत्तेः मुक्तप्राप्योच्छेदापत्तेः उक्रान्तिगत्याद्यनुपपत्तेश्चेत्यलं विस्तरेण ॥५॥

उसमें आदि शब्द अवच्छेद वाद की भी प्रमाण शून्यता का द्योतक है । अब इस सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हैं--जिस उपाधि के द्वारा उस शुद्ध, निर्विशेष, नित्यमुक्त, चिदानन्द, ब्रह्म को अवच्छिन्न करके जीव भाव में पहुँचाया वह उपाधि सीमित है या व्यापक ? यदि उस उपाधि को परिच्छिन्न अर्थात् सीमित, छोटा मानते हैं तब तो घट के एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचने पर उसके भीतर के आकाश की तरह उपाधि के स्थानन्तरण से जीव का स्थान्तरण नहीं हो सकता । नहीं तो पद पद में जीव का बन्धन और मोक्ष होने लगेगा । पूर्व देशावाच्छिन्न अनादिमायाबद्ध जीव का मोक्ष के साधन रूप ज्ञानादि के बिना ही मोक्ष हो जायेगा तथा उत्तर देशवर्ती नित्यमुक्त चेतन का विना कारण ही बन्धन हो जायेगा । इसी प्रकार किये का नाश और नहीं किये कर्म की फल प्राप्ति का प्रसङ्ग भी हो जायेगा ।

यदि उपाधि को व्यापक माना जाय, तब उपाधि के विभु होने से सम्पूर्ण विभु रूप चैतन्य का भी अवच्छिन्नत्व अर्थात् आवरण होगा । जगत् में सर्वत्र अज्ञानान्धकार छा जावेगा, मुक्त जीवों को प्राप्त होने वाली गति का उच्छेद भी हो जावेगा । शास्त्रों में वर्णित जीवों की उत्क्रान्त गति अर्थात्

पुण्यात्मा जीव देह से निकल कर सूर्य किरण द्वारा दिन, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर के माध्यम से सूर्य मण्डल, चन्द्र मण्डल, अग्निमण्डल का भेदन कर विरजा को पार कर अप्राकृत भगवद्धाम पहुँचता है । इस प्राकर की उपयुक्तता भी नहीं रहेगी । अतः शास्त्र प्रमाण शून्य होने से मुमुक्षुजनों को यह अवच्छेदवाद हेय समझना चाहिए ॥५॥

एतावता ब्रह्मसाधारण्यमुक्तमिदानीं तत्राऽतिप्रसङ्गं वारयन्नचेतनसाधारण्यं दर्शयति--

यहाँ तक के प्रकरण में जीव का ब्रह्म के साथ देहादि से विलक्षण, ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता अहमर्थादि रूप से साधर्म्य भाव बताया गया अब ब्रह्म में अति प्रसङ्ग को रोकने के लिए जीव का भोग्य (प्रकृति) के साथ साधारण धर्म बताते हैं--

ब्रह्मात्मकाश्च तद्व्याप्यास्तदाधेयाश्च सर्वदा ।
तदधीनाः स्वभावेन स्थित्यादौ शास्त्रमानतः ॥६॥

अनन्त जीवों में ब्रह्म का अन्तरात्म रूप द्वारा व्याप्त रहने से उन जीवों को ब्रह्मात्मक कहते हैं "तन्सृष्ट्वातदनुप्राविशत्" प्रपञ्चात्मक जगत् का निर्माण कर उसमें प्रवेश किया "इस वचन से यह जड चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मात्मक है अतः उससे अभिन्न हुआ, जैसे अग्नि का व्याप्य धूम होता है उसी प्रकार समस्त जीव ब्रह्म का व्याप्य हैं । जैसे समुद्र यावत् जलराशि का आधार तथा जल आधेय है उसी प्रकार जीव समुदाय आधेय और ब्रह्म उसका आधार है । जड रूप जगत् भी आधेय है अतः साधर्म्य हुआ । जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति मोक्ष आदि अवस्थाओं में ब्रह्म के अधीन है । वह अधीनता भी निरुपाधिक स्वाभाविक है यह सब श्रुति स्मृति सूत्रादि शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध है, उसको दिखाते हैं--

ब्रह्मात्मका इति । निरतिशयबृहत्स्वरूपगुणशक्त्यादिवस्तु ब्रह्म-शब्दाभिधेयो भगवाञ्छ्रीपुरुषोत्तम आत्मा अन्तरात्मा येषां ते तथा, "एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायण" इतिश्रुतेः--

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

इतिश्रीमुखोक्तेः, आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति न्यायाच्च, किञ्च तद्व्याप्या इति, तस्य ब्रह्मणो व्याप्याः,

यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।

"क्षीरे सर्पिरिवाऽऽहित" मितिश्रुतेः

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिनेति

श्रीमुखोक्तेश्च, किंच तदाधेया इति, तस्य ब्रह्मणो भगवतः श्रीकृष्णस्याऽधेयाः परमात्माऽऽधारका इत्यर्थः, "यस्मिन् द्यावापृथिवी चाऽन्तरीक्षं प्रोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैर्यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो ऽर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे" इत्यादिश्रुतेः--

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवेति

स्मृतेश्च, किंच सर्वदा स्थित्यादौ स्वभावेन तदधीनाः इति, सर्वदा पूर्वोक्तासु सर्वावस्थासु जाग्रदादिबन्धमोक्षादिषु तस्य हरेरधीना इति, "एष एव साधु कर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष एवाऽसाधु कर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो ऽधोनिनीषते"

स कारयेत्पुण्यमथाऽपि पापं न तावता दोषवानीषिताऽपि ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

"अज्ञो जन्तुरनीशश्च आत्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा"

इत्यादिश्रुतिभ्यः,

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥

सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाऽभयमेव च ।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः

इति श्रीमुखोक्तेश्च, तत्रोपाधिशङ्कां वारयति स्वमावत इति स्वतः स्वरूपेणैवेत्यर्थः, तत्र प्रमाणमाह शास्त्रमानत इति, तच्च पूर्वमेवोदाहृतं,

मोक्षधर्म्मे प्रह्लादः ।

यदि स्यात्पुरुषः कर्ता शक्त्याऽऽत्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्धेयुर्न तु जातु पराभवेत् ॥
अप्रियस्य च निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥
अनिष्टस्याऽपि निर्वृत्तिरिष्टसंवृतिरेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित्तत्स्वभावतः ॥
प्रतिरूपतराः केचिद् दृष्टान्ते बुद्धिमत्तराः ।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम् ॥
अश्वमेधपर्वणि श्रीव्यासः ।
युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मनः ॥
न हि कश्चिदयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाः ।
ईश्वरेण प्रयुक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः ॥
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवने--
त्यादिस्मृतयो ऽप्यत्राऽनुसन्धेयाः ॥६ ॥

निरतिशय बृहद् गुण शक्ति युक्त ब्रह्म शब्द से कहा जाने वाला भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही है आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा जिनके वे समस्त जीव ब्रह्मात्मक कहे गये हैं । "यही सब प्राणियों का अन्तरात्मा, दिव्य एक देव श्रीनारायण है, इस श्रुति से, "हे अर्जुन सब प्राणियों के भीतर अन्तरात्मरूप से रहने वाला आत्मतत्व मैं ही हूँ" इस भगवद् वचन रूप गीता स्मृति से "विज्ञजन" यह परमात्मा अंशी होने से मुक्त अंश रूप जीव की आत्मा और सब की अन्तरात्मा है, इस प्रकार अनुभव करते हैं, तदनन्तर अपने शिष्यों को "यह परमात्मा अंश रूप तुम्हारे अंशी होने से आत्मा है अन्तर्यामी, अमृत है, यह सम्पूर्ण जगत् इसी से व्याप्त है" इत्यादि रूप से ग्रहण कराते हैं "इस सूत्र प्रमाण से भी जीव ब्रह्मात्मक हैं यह सिद्ध हुआ । यहाँ तक ब्रह्मात्मकाः" इस शब्द का विश्लेषण किया ।

अब "तद् व्याप्याः" इस शब्द का विश्लेषण किया जाता है-- जीव ब्रह्म के व्याप्य है । अर्थात् धूम जैसे अग्नि के विना स्वतन्त्र नहीं रह सकता किन्तु अयोगोलक आदि में धूम के विना भी अग्नि की स्थिति देखी जाती है अतः वह स्वतन्त्र है । उसी प्रकार ब्रह्म के विना जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ब्रह्म तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है ही, "इस जगत् में जो कुछ दिखाई व सुनाई देता है, उस सबको भीतर बाहर से ढक कर भगवान् नारायण स्थित है ।" दूध में घी की तरह सर्वव्यापक है, इस श्रुति से इस चेतन और अचेतन संसार में अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अगोचर मूर्ति से (अन्तर्यामी रूप से) मैं व्याप्त हो रहा हूँ, इस श्रुति स्मृति रूप गीता के वचन से तद्व्याप्य भाव प्रमाणित है ।

अब "तदाधेयाः" इस पद की व्याख्या करते हैं--

समस्त जीव उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के आधेय अर्थात् श्रीकृष्णाऽधार वाले हैं । "जिस परब्रह्म परमात्मा में स्वर्ग - पृथवी, अन्तरिक्ष आदि सम्पूर्ण लोक ओत-प्रोत हैं, प्राणों के साथ मन, अपने अङ्ग रूप समस्त देववृन्द के साथ इन्द्र, वरुण, मित्र,अर्यमा आदि प्रधान देवेशों ने जिन में अपने वास स्थान बनाये हैं "इस श्रुति से" जैसे मणियों की स्थिति-प्रवृत्ति सूत्र अर्थात् डोरे के अधीन होती है उसी प्रकार समस्त जगत् की स्थिति प्रवृत्ति मेरे ही अधीन है, इस स्मृति प्रामण से तदाधेयता भी शास्त्र-सिद्ध है ।

अन्त में "तदधीनाः" इस पद का विश्लेषण श्रुति स्मृति प्रमाणों के साथ दर्शाते हैं--

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा, जन्म, मरण, मोक्ष आदि सभी अवस्थाओं में जीव सदा हरि के अधीन रहते हैं । जैसे सूर्य किरण सदा सूर्य के अधीन रहते हैं उसी प्रकार जीवों की स्थिति प्रवृत्ति भी ब्रह्म के ही अधीन है ।

"यही परमात्मा उस जीव से उत्तम कर्म कराता है जिसको वह इन लोकों से ऊपर अर्थात् गोलोकादि दिव्य धामों में लेजाना चाहता है" यही परब्रह्म उस जीव से असत्कर्म कराता है जिसको इन लोकों से नीचे निरयादि लोक में ले जाना चाहता है ।" वह जीवों से पुण्य कर्म तथा पाप कर्म कराने पर भी उस पुण्य पाप के गुण दोष का भागी नहीं होता" । अनन्त तेजो राशि से देदीप्यमान उस देव के पीछे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि सब चमकते हैं, उसी के तेज से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रकाशित होता है" ।

"अल्पज्ञ जीव, अपने श्रेय के लिए स्वयं असमर्थ होता हुआ ईश्वर की प्रेरणा से ही अपने किये शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप सुख और दुःख को भोगने हेतु स्वर्ग या नरक को जाता है" इत्यादि श्रुति प्रमाणों से, बुद्धि, ज्ञान, मोह का अभाव, सहनशीलता, सत्य, दया, इन्द्रियों को बाह्य से रोकना, सुख, दुःख, भव, भाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तपस्या, दान, यश और अपयश, ये सब भाव पृथक्-पृथक् रूप से प्राणियों के लिए उक्त सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर से ही होते हैं । इस भगवद् वाक्य रूप प्रमाणों से तदाधेय की प्रामाणिकता सिद्ध हुई । जल तरङ्ग, सूर्यरश्मि आदि की तरह स्वाभाविक तदधीनता बताने के लिए मूल में "स्वभावेन" शब्द दिया है । अतः उपाधिकृत अधीनता नहीं हैं । उपाधि कृत भेद में अनेक-विधदोष पूर्व में निर्दिष्ट किये हैं । "शास्त्रमानतः" इस पद की व्याख्या पूर्वोक्त श्रुति स्मृति प्रमाणों के साथ हो चुकी है । फिर भी अन्य उदाहरण दर्शाते हैं । विष्णुपुराण के मोक्ष धर्म प्रकरण में प्रह्लाद कहते हैं--

"यदि जीवात्मा अपने कल्याण के लिए उत्तम कर्म करने में स्वतन्त्र समर्थ होता तो निश्चय ही उसके सभी आरम्भ सिद्ध हुए होते और वह कभी भी किसी से पराभूत (पराजित) नहीं होता । निरन्तर यत्नशील रहने वालों के अप्रिय वस्तु व अप्रिय प्रसङ्ग का निवारण नहीं दीखता, प्रिय वस्तु व प्रिय प्रसङ्ग का अनिवारण भी नहीं दीखता । चतुर्विध पुरुषार्थ की उपलब्धि तो कहां से हो । इसके विपरीत जो किसी प्रकार का यत्न नहीं करते उनके लिए स्वतः ही अनिष्ट की निवृत्ति तथा इष्ट वस्तु की उपलब्धि देखी गयी है ।

यह बात स्वभावतः जान पड़ती है । यह भी आश्चर्य है--कोई अत्यन्त रूपवान् व्यक्ति अतिकुरूप व्यक्तियों से अति बुद्धिमान जन बुद्धिहीन जनों से धन प्राप्ति की इच्छा करते हुए देखे गये हैं ।

महाभारत के अश्वमेध पर्व में युधिष्ठिर के प्रति भगवान् व्यास कहते हैं--"हे युधिष्ठिर तुम समस्त अनर्थ का कारण अपने को मानते हो अतः तुम्हारी प्रज्ञा (बुद्धि) अच्छी नहीं है ऐसा मेरे मन में विचार आया क्योंकि कोई भी मनुष्य स्वाधीन होकर कार्य नहीं कर सकता, ईश्वर से नियुक्त (प्रेरित) होकर ही यह शुभ और अशुभ कार्य करता है, इसमें अपने ऊपर आरोपित करके दुःख मानना उचित नहीं है (अतः शोक त्यागो) इत्यादि स्मृति प्रमाणों का भी इस विषय में अनुसन्धान करना चाहिए ॥६॥

यहाँ तक के प्रकरण में जीवात्मा का ब्रह्म और प्रकृति के साथ साधर्म्य भाव बताया गया । अब उन दोनों से विलक्षण और वैधर्म्य भाव बताते हैं--

अथोभयवैलक्षण्यं दर्शयंस्तयोश्चाऽतिप्रसङ्गं वारयंस्तत्रसंख्यापरिमाणविषयकविवादं निराकरोति अर्द्धेन--

भिन्नाश्च प्रतिदेहं वै ह्यणवः परिमाणतः ॥६॥

अत्र केचित्कल्पितोपाधितो जीवानां बहुत्वमाहुः अन्ये सत्योपाधिकृतं तेषामसंख्येयत्वमभ्युपगच्छन्ति तन्निरासाय विशिनष्टि भिन्नाश्च, प्रतिदेहं वा इति, प्रतिदेहं स्वभावेन भिन्ना विलक्षणा इतियावत्, वा इतिनिश्चये शास्त्रप्रमाणसिद्धमित्यर्थः, "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामा" नितिश्रुतेः "अंशो नानाव्यपदेशा" दिति न्यायात् ।

न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः पर--
मित्यादिस्मृतेश्च ।

ब्रह्म और अचेतन में अति प्रसङ्ग का वारण करते हुए दोनों से विलक्षणता जीव की बतायी गयी है । जीवात्मा के विषय में संख्या

और परिमाण (आकार-प्रकार) का मतभेद दूर किया जाता है । पद्यार्द्ध भाग से ।

"जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न रूप से रहने के कारण अनन्त तथा परिमाण में अणुरूप ही माने गये हैं ।" इस प्रसङ्ग में कुछ दार्शनिकों का मत है कि कल्पित उपाधियों के भेद से जीव में बहुत्व रूप आया है वस्तुतः जीव तो एक ही है । दूसरे दार्शनिक उपाधि को सत्य मानते हैं उस सत्योपाधि की असंख्यता से ही जीव में असंख्यता आयी है, स्वरूप से तो जीव एक ही है । इन्हीं मतों का निराकरण करने के लिए "भिन्नाश्च प्रतिदेहं वै" यह विशेषण दिया गया है । शास्त्र प्रमाणों के निश्चय से प्रत्येक शरीर में स्वभावतः भिन्न-भिन्न रूप से रहने के कारण विलक्षण है ।

"नित्य अनन्त जीवों में जो एक नित्य है, जो अनन्त चेतनों में एक चेतन है, जो अनन्त जीवों की इच्छाओं को अकेले ब्रह्म अपनी अनन्त महिमा से पूर्ण करता है, इस श्रुति प्रमाण से, "अंशोनानाव्यपदेशात्" अर्थात् यही जीव परमात्मा से न अत्यन्त भिन्न है नहीं अत्यन्त अभिन्न है किन्तु परमात्मा का अंश है । अंश भी यहाँ शक्ति रूप ही लिया गया है न कि द्रव्यान्तरों की तरह खण्ड रूप । "यह परमात्मा का शक्ति रूप जीव परमात्मा के अहम् शक्ति वाला और स्वतन्त्र है । अतः स्वरूप से भिन्न होते हुए भी अंशी के अधीन स्थिति प्रवृत्ति वाला होने से अभिन्न है । श्रुतियों में भेद और अभेद ये दोनों मुख्य रूप से ही बतलाये हैं इनमें गौण मुख्य भाव नहीं है" । इस सूत्र प्रमाण से, "विद्वान् पुरुष मृत तथा जीवित व्यक्ति के विषय में जिस हेतु से शोक नहीं करते वह हेतु ही परमात्मा है । यहाँ प्रथम न शब्द जीव, ब्रह्म में समानता का निराकरण करता है । भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं हे अर्जुन ! जिस प्रकार सब आत्माओं में सर्वेश्वर मैं पूर्वकाल में नहीं था ऐसी बात नहीं है अर्थात् पूर्वकाल में भी था, वैसे ही तुम और ये सभी राजालोग भी पूर्वकाल में नहीं थे ऐसी बात नहीं है, अर्थात् तुम और सब भी पूर्व काल में थे । इससे आत्माओं की सत्ता भूतकाल में भी रहने से अनादित्व (जन्मराहित्य) सिद्ध है । वर्तमान में है ही इसके बाद नहीं होंगे

अर्थात् भविष्यत् काल में नहीं रहेंगे यह भी नहीं है, भविष्यत् में भी रहेंगे । इससे अविनाशित्व सिद्ध हुआ । इस स्मृति प्रमाण से भी जीवात्मा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में स्थित है संख्या में अनन्त हैं यह प्रमाणित हुआ ।

अथ परिमाणेऽपि विप्रतिपत्तयः तत्र बाह्या मध्यमपरिमाणं वदन्ति तार्किकमीमांसकादयो विभुत्वमङ्गीचक्रुः तन्निराकरोति ह्यणवः परिमाणत इति परिमाणतो ह्यणव इत्यर्थः हि शब्दो ऽवधारणे स च मध्यमवैभवपरिमाणव्यावृत्त्यर्थः तत्र न तावन्मध्यमपरिमाणत्वं संभवति अनित्यत्वापत्तेः वाह्याभ्युपगत आत्मा अनित्यः मध्यमपरिमाणकत्वात् यदेवं तदेवं घटादिवत् मध्यमपरिमाणको नाऽऽत्मा सावयवत्वात् घटादिवदित्यादिप्रयोगात् नाऽपि विभुत्वम् असंभवात् तत्रैकत्वं बहुत्वं वा आत्मन इतिविवेचनीयम् आद्ये एकस्यैव ह्यनेकोपाधियोगेन सर्वेषामपि सर्वान्तःसुखदुःखाद्यनुभवापत्तेः अहं त्वमयमित्यादिप्रतीत्युच्छेदापत्तेः अन्यथा एकस्मिन्नपि शरीरेऽनेकोपाधिकरचरणाङ्घ्रिभेदेन स एवाऽहमितिप्रतीत्यभावापत्तेः नाऽपि द्वितीयः तत्राऽपि उपाधेरणुत्वं विभुत्वं वेति विवेचनीयम् आद्ये उपाधेरल्पपरिमाणिकदेशस्थितौ सत्यां सर्वदेहरतिसुखदुःखाद्यनुभवानापत्तेः द्वितीये सर्वोपाधीनां सर्वक्षेत्रज्ञैः संबन्धाविशेषात् सर्वेषां सुखादिः सर्वैरप्यनुभूयेत नियामकाभावात् एतद्दूषणं पूर्वकल्पेऽपि समानम् उभयथा ऽप्यसंभवसाम्यात् तस्मादणुपरिमाणकत्वमेवेति राद्धान्तः "अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यः यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीता" इत्यादिश्रुतिभ्यः उत्क्रान्तिगत्या गतीनां नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारादितिसूत्राच्च ।

अब जीव के परिमाण (आकार) के सम्बन्ध में विचार करते हैं । परिमाण के विषय में अनेक परस्पर विरुद्ध मत सामने आते हैं, जैन सम्प्रदाय जो वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करते हैं उनका मत है जीव मध्यम परिमाण वाला है अर्थात् शरीर के आकार-प्रकार के अनुरूप जीव का आकार होता है । न्याय - वैशेषिक और मीमांसक आत्मा को विभु परिमाण

रूप में स्वीकार करते हैं । उक्त मतों के निराकरण हेतु "ह्यणवः परिमाणतः" का विशेषण दिया गया है । यहाँ पर हि शब्द निश्चयार्थ का द्योतक है । वह मध्यम तथा विभु परिमाण के व्यवच्छेद के लिए है । उसमें प्रथमतः मध्यम परिमाण पर समीक्षा करते हैं--आत्मा का मध्यम परिमाणत्व नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर उसमें अनित्यता आजावेगी । जैन सम्प्रदायाभिमत आत्मा अनित्य है मध्यम परिमाण वाला होने से । जो मध्यम परिमाण (ह्रास--वृद्धि) वाला होगा वह अनित्य ही होगा घट पटादि की तरह क्योंकि नित्य वस्तु की कभी ह्रास-वृद्धि नहीं होती । इसको अनुमान प्रयोग द्वारा दर्शाते हैं--मध्यम परिणाम वाला आत्मा नहीं हो सकता, सावयवत्व (अवयव वाला) होने से घटादि अनित्य वस्तुओं की तरह । अतः मध्यम परिमाण शास्त्र एवं युक्ति के विरुद्ध है । उसी प्रकार जीवात्मा का आकार विभु भी नहीं हो सकता । क्योंकि यह असम्भव है । जैसे-आत्मा के विभुत्व विषय में यह विचारणीय है कि आत्मा एक है या बहुत । यदि आत्मा को एक मानते हैं तो एक ही आत्मा का अनेक उपाधियों से योग होने से सभी को सभी के सुख दुःखादि का अनुभव होने लगेगा तथा मैं, तुम यह इत्यादि प्रतीति का उच्छेद हो जायेगा । जब अहमर्थादि की प्रतीति नहीं होगी तो एक ही शरीर में भी अनेक उपाधि रूप हाथ, पांव के भेद से वही मैं हूँ इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकेगी ।

यदि आत्मा को बहुत मानते हैं तब उसमें भी उपाधि के अणुत्व और विभुत्व पर विचार करना पड़ेगा । उपाधि को अणु मानने पर अल्प परिमाण होने से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त सुख-दुःखादि का अनुभव प्राप्त न होगा । उपाधि के विभुत्व में सम्पूर्ण उपाधियों का समस्त जीवों के साथ समान सम्बन्ध होने से सभी के सुख-दुःखादि का अनुभव सबको प्राप्त होने लगेगा । उसमें कोई नियामक होगा ही नहीं, यह दोष अणुत्व में तुल्य है । दोनों प्रकार से आत्मा का विभुत्व मानना असम्भव है । अतः जीव अणु परिमाण वाले ही है यह सिद्धान्त पक्ष निश्चित है । इसमें शास्त्र प्रमाण दर्शाते है--

"यह आत्मा अणु रूप ही है, निर्मल अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है, जिसमें प्राण अपने पांच स्वरूप (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) से प्रविष्ट हुआ है, इस अणु स्वरूप आत्मा में ही ये समस्त प्राण आबद्ध रहते हैं" इत्यादि श्रुति प्रमाण से "जीवात्मा उत्क्रान्ति" गति और आगति का योग्य है, यह तीनों उसके विभुत्व में उपपन्न नहीं हो सकते । जब जीव इस शरीर से निकलता है, तब वह इन सब प्राणों के साथ उत्क्रमण करता है, इस प्रकार उत्क्रान्ति बतायी गई । "जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रमा को ही प्राप्त होते हैं" इस प्रकार गति तथा "उस पुण्य लोक से पुण्य क्षीण होने पर फिर इस लोक में उत्तम कर्म सम्पादन करने के लिए आते हैं, इस प्रकार आगति बतायी गयी है । "नाऽणुरतच्छ्रुतेरितिचेन्नेतराधिका-रात्" कोई कहे कि जीव अणु रूप नहीं है श्रुति में उसे अनणु कहा है "वह यह महान् अज आत्मा है" इस प्रकार जीव को महान् बताया है" यह कथन परमात्माधिकार में कहा गया है अतः जीव अणु रूप ही है" इस सूत्र प्रमाण से भी जीव का अणुत्व सिद्ध हुआ ।

ननु अणुपरिमाणाभ्युपगमेऽपि अणोश्चेतनस्य देहाल्पैकदेशवृत्तित्वेन सर्वावियवगतसुखादेर्युगपदनुभवानुपपत्त्या तवाऽपि पूर्वोक्तदोषस्याऽविशेषा-त्कथं चाऽणुत्वमिति चेन्न धर्म्मिणो ऽणुत्वेऽपि तदाश्रितधर्म्मभूतज्ञानस्य विभुत्वात् सामञ्जस्यं बहुगुणसारत्वात् तर्ह्यपदेशः विभुत्वकथनम् । इत्यादि-न्यायात् अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवाऽस्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तो, व्याप्तो वै पुरुष, इत्यादिश्रुतेः ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारते--

ति श्रीमुखोक्तेश्च, न च प्रकाशस्याऽऽश्रयं विनाऽन्यत्र व्याप्त्यसभव इतिवाच्यं दीपं विना तत्प्रभायाः वन्हिं विना तदौष्ण्यादेः पुष्पं विना तद्गन्धस्य धर्म्मिणं विना जातिसमवायादेर्व्याप्तेः सुप्रसिद्धत्वात् एतेनैव क्वचिच्छ्रुतौ वैभवपाठस्याऽपि गतिरुक्ता विभुधर्म्माश्रयस्य तथात्वं शक्त्यैवाऽवगम्यते इति भावः ।

अब आशंका करते हैं--शास्त्र प्रमाणों से जीव का अणु परिमाणत्व स्वीकार करने पर भी उस अणुरूप चेतन के शरीर के किसी स्वल्प भाग में ही स्थित रहने के कारण सभी अवयवों में व्याप्त सुख-दुःखादि का एक साथ अनुभव नहीं हो सकेगा, अतः अव्याप्ति दोष तो आपके सिद्धान्त में भी आया । दोष युक्त होने से जीव का अणुत्व लक्षण मान्य नहीं है-क्योंकि लक्षण वही होता है जिसमें अव्याप्ति अति व्याप्ति और असम्भव ये तीनों दोष न हों । इन तीनों में एक भी दीखता है तो लक्षण अलक्षण हो जाता है । इस आशंका का समाधान करते हुए सिद्धान्तवादी कहते हैं--धर्मी जीव के अणु रूप होने पर भी उसमें आश्रित धर्मभूत ज्ञान (चैतन्य) के विभु (व्यापक) होने से कोई दोष नहीं है ।

गुणरूप ज्ञान का अतिसारवान् होने के कारण उसमें भी मुख्य व्यवहार होता है अतः गुण बाहुल्य से विभुत्व कहना विरुद्ध नहीं है । छोटे से नेत्र का प्रकाश जैसे व्याप्त होता है उसी प्रकार इस जीव का चैतन्य रूप प्रकाश भी व्याप्त है "व्याप्तो वै पुरुषः" जीव व्याप्त है यह श्रुति वचन यहाँ प्रमाण है ।

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में आज्ञा करते हैं--"हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त विश्व को प्रकाशित करता है" उसी प्रकार शरीर के किसी एक भाग में स्थित रहकर भी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) क्षेत्र रूप सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित (चैतन्य) करता है ।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि "प्रकाश का आश्रय के विना व्याप्त होना सम्भव नहीं है ।" जैसे एकदेशस्थ दीपक का प्रकाश अन्यत्र आश्रय के विना भी व्याप्त होता है, अग्नि के विना भी उष्णता, पुष्प के विना भी उसकी सुगन्धि-व्याप्त प्रतीत होती है वैसे ही सर्वत्र धर्मी के विना भी जाति समवाय की व्याप्ति सुप्रसिद्ध है । इसी प्रकरण में किन्हीं श्रुतियों में आत्मा का विभुत्व पाठ का समाधान भी समझना चाहिए । व्यापक रूप धर्म के आश्रय का व्यापकत्व होना उसी शक्ति के द्वारा ही जाना जाता है । यह तात्पर्य है ।

विशेषश्च जिज्ञासुभिः वेदान्तरत्नमञ्जूषायां द्रष्टव्यः एतावता ग्रन्थेन वक्ष्यमाणविशेषकाणां त्रिविधानामपि क्षेत्रज्ञानां साधरण्यं निरूपितम् । इदानीं तेषां विशेषं व्यञ्जयन्नाह ।

इस सम्बन्ध में जिज्ञासु जनों को "वेदान्तरत्नमञ्जूषा" से विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिए । यहाँ तक के प्रकरण से आगे बताये जाने वाले भी तीन प्रकार के जीवों का साधारण स्वरूप निरूपित किया गया है । अब उनके विशेष धर्म कहे जायेंगे ।

नित्यमुक्तादिभेदेन ज्ञातव्यास्त्रिविधाः खलु ।
सदा पश्यन्ति चेत्यादिर्नित्यमुक्तान्समादिशत् ॥७॥
जहात्येनामितिश्रुतिर्बद्धमुक्तान्प्रचक्षते ।
अजो ह्येकस्तथा भूयो बद्धानाह सनातनी ॥८॥

शास्त्र प्रमाण से निश्चय ही नित्यमुक्त, नित्यबद्ध, बद्ध के भेद से जीव तीन प्रकार के जानने चाहिए । उनमें "सदापश्यन्ति सूरयः" भगवत्सान्निध्य को प्राप्त हुए ज्ञानी जन सदा ही परमात्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं, इस वचन से नित्य मुक्त जीवों का स्वरूप बताया गया है । "जहात्येनां मुक्त भोगामजोऽन्यः" भोग्य शब्द से निर्दिष्ट माया रूप जगत् को भोग करके विवेकशील मुमुक्षु उसे छोड़ देता है, इस वचन से बद्ध मुक्त जीवों का स्वरूप बतलाया गया । "अजोह्येको जुष्माणोऽनुशेते" विषयों को भोगता हुआ कोई जीव सदा ही उसी में आसक्त रहता है, इस वचन से बद्ध जीवों का स्वरूप कहा गया है । यह उस सनातन श्रुति का कथन है उसी का विस्तार करते हैं--

खल्विति निश्चये जीवात्मानस्त्रिविधा ज्ञातव्या इति सम्बन्धः, त्रैविध्यमेवाह नित्यमुक्तादिभेदेनेति, नित्यमुक्ता बद्धमुक्ता बद्धाश्चेत्युद्देशः तानेवोद्दिष्टाँल्लक्षणप्रमाणाभ्यां श्रुतिमुखेन विवेचयन्नादौ नित्यमुक्तलक्षणमाह, सदा पश्यन्ति चेत्यादि, त्रैकालिकसंसारदुःखसामान्यात्यन्ताभाववत्त्वे सति सदैव स्वभावतो भगवदनुभाविततत्स्वरूपगुणादिविषयकानुभवानन्दवत्त्वं

नित्यमुक्तलक्षणं "तद्विष्णोःपरमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय" इतिश्रुतेः, तत्र बद्ध-मुक्तेष्वतिप्रसङ्गवारणाय त्रैकालिक इति, समाधिनिष्ठेष्वतिप्रसङ्गवारणाय सदा स्वभावत इति, श्रीपुरुषोत्तमेऽतिप्रसङ्गवारणाय भगवदनुभावितेत्यादिपद-संनिवेशः, तथैव श्रुतावपि पदसंग्रहप्रयोजनमनुसन्धेयं तेऽप्यसंख्येयाः श्रुतौ बहुवचनपाठात् लक्षणश्रुतिरेवात्राऽपि प्रमाणं तत्र विष्वक्सेनजयविजयादयः पार्षदाः गरुडशेषादीनि यानासनानि शङ्खचक्रधनुर्वाणहलमुसलादय आयुधाः मुरल्यादयो वाद्याः किरीटकुण्डलकौस्तुभवैजयन्तीवनमालाकेयूरकट-काङ्गुलीयकाञ्चीनूपुरपीताम्बरादय आनन्तर्याख्या भूषणाम्बरादयः विमला-दयश्च शक्तिविशेषा इति विवेकः ॥७॥

उपर्युक्त पद्य में जो "खलु" यह अव्यय शब्द है वह निश्चयार्थ का द्योतक है । निश्चित रूप से जीवात्मा के तीन रूप भेद समझने चाहिए ऐसा वाक्य का सम्बन्ध है । उद्देश, लक्षण, प्रमाण से प्रमेय का निरूपण किया जाता है । यहाँ प्रथमतः नित्यमुक्त, बद्धमुक्त, बद्ध इस प्रकार नाम निर्देश द्वारा उद्देश रूप से जीवों के तीन भेद का निरूपण किया है । उन्हीं उद्दिष्ट जीवों का लक्षण और प्रमाण से विवेचन किया जा रहा है । सर्वप्रथम नित्यमुक्तों का लक्षण कहते हैं "सदापश्यन्तिसूरयः" इत्यादि । इसका भाव है "भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में सांसारिक दुःखों का अत्यन्त अभाव होते हुए सदा ही स्वाभाविक भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त उन्हीं के स्वरूप गुणादि विषयक अनुभवानन्द वाला नित्यमुक्त होता है ।" इस लक्षण को प्रमाण से सुदृढ करते हैं--"सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वेश्वर भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के उस परमदिव्य अप्राकृत गोलोकाख्य धाम को भगवद् भावापन्न सूरिजन सदा ही अवलोकन करते हैं" इस श्रुति प्रमाण से धामधामी से उनका कभी वियोग नहीं होता । यह नित्यमुक्त का स्वरूप है । इस लक्षण में "त्रैकालिक" शब्द बद्धमुक्तों में अतिप्रसङ्ग वारण करने हेतु प्रयुक्त है । समाधिनिष्ठ पुरुषों में अतिव्याप्ति न हो इसके लिए "सदास्व-भावतः" पद दिया है । ब्रह्म में अतिप्रसङ्ग न हो जाय एतदर्थ "भगदनुभावित" इत्यादि पदों का सन्निवेश किया गया है । उसी प्रकार श्रुति में भी पद संग्रह

का प्रयोजन समझना चाहिए । मुक्त जीव भी असंख्येय है क्योंकि श्रुति में "सूरयः" इस बहुवचन पाठ से लक्षण श्रुति ही यहाँ प्रमाण भी है । उन असंख्य नित्यमुक्तों में कुछ संकेत मात्र बतलाये हैं--विश्वक्सेन, जय, विजय आदि पार्षद, गरुड, शेष आदि आसन (बहिरङ्गपार्षद) शंख, चक्र, बाण, धनुष, हल, मूसल आदि आयुध, मुरली आदि वाद्य, किरीट, कुण्डल, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती (रत्नहार) वनमाला (पुष्पहार) केयूर, कङ्कण, अंगूठी, करधनी, नुपूर, पीताम्बर आदि भूषण वस्त्र आदि (अन्तरङ्ग पार्षद) है ।

विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशानी ये शक्ति विशेष हैं ॥७॥

अथ बद्धमुक्तानाह जहात्येनामित्यादि, "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य" इतिश्रुतिः, अनादिकर्मात्मिकाविद्याकृतप्रकृतिसम्बन्धतत्कार्य्य-दुःखादितत्साधनदेहादिरूपबन्धविनिर्मुक्ता इति तेऽपि द्विविधाः विश्वात्म-भगवद्भावापन्ना एके--

वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चेति--
वचनात्, प्रत्यक्स्वरूपमापन्नाश्चाऽन्ये ।

अब बद्ध मुक्तों का लक्षण बताते हैं--"जहात्येनांभुक्तभोगामजोऽन्यः" इति अर्थात् अनादि कर्मरूप अविद्या के द्वारा किये गये प्रकृति सम्बन्ध तथा उस सम्बन्ध के कार्यभूत दुःखादि के कारणीभूत देहादिके बन्धन से मुक्त हुए जीवों को बद्धमुक्त कहा गया है । संक्षेप में--"पूर्वबद्धः पश्चान्मुक्तः" कहा जाता है । वे बद्धमुक्त भी दो प्रकार के है । एक वे हैं जो विश्वात्मा परमात्मा के भाव को प्राप्त हुए हैं। भगवान् कहते हैं-"रागद्वेषादिरहित ज्ञानी जन मदात्मक हो जाते हैं, वे मेरा ही आश्रय लेते हैं ऐसे बहुत से भक्त ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त होते हैं ।" यहाँ मेरे भाव से तात्पर्य

है उनका ज्ञान और आनन्द मेरे ही समान असीम हो जाता है । "इस ज्ञान का आश्रय लेकर वे ज्ञानी भक्त मेरे समान धर्म (साधर्म्य) को प्राप्त होते हैं" "वे न तो सृष्टि के समय उत्पन्न होते हैं न ही प्रलय में व्यथा का अनुभव करते हैं । अर्थात् वे सदा नित्य सुख में रहते हैं । इस स्मृति प्रामण से भगवद्भावापन्न बद्धमुक्तों का स्वरूप कहा गया है ।" दूसरे बद्धमुक्त वे है जो अपने ही नित्य चिन्मय स्वरूप को प्राप्त हुए है । उनको आत्मभावापन्न कहते हैं ।

अथ बद्धानाह--

अजो ह्येकस्तथा भूयो बद्धानाह सनातनीति ।

"अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते" इति सनातनी श्रुतिः बद्धानाहेति-योजना, अनादिकर्मजन्यदेवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहतत्सम्बन्धवत्सु आत्मा-त्मीयाभिमानवन्तो बद्धाः, तेऽपि द्विविधाः मुमुक्षवो बुभुक्षवश्चेति, "तत्र मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति श्रुतेः, आध्यात्मिकादिविविधसांसारिकदुःखा-नुभवजातक्लेशवशान्निर्विणास्ततो मोक्षमिच्छवो मुमुक्षवः, तेऽपि द्विविधाः तत्रैके भगवद्भावापत्तिकामाः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।

इति भगवदुक्तेः, स्वस्वरूपापत्तिकामाश्चाऽन्ये इति "स्वेन रूपेणा ऽभिनिष्पद्यते" इति श्रुतेः, वैषयिकभोगेच्छवो बुभुक्षवः, तेऽपि द्विविधाः भाविश्रेयस्कामा नित्यसंसारिणश्चेति ॥८॥

इसके अनन्तर तीसरे बद्ध जीवों के लक्षण कहते हैं--"अजो ह्येको-जुषमाणोऽनुशेते" अर्थात् अनादि कर्म से उत्पन्न देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि उत्तम, मध्यम, अधम शरीरों से सम्बद्ध जीवों से सम्बन्ध रखते हुए तदनुरूप शरीर युक्त आत्मात्मीय भाव वाले जीव बद्ध कहलाते हैं । इस प्रकार के बद्ध जीव भी दो प्रकार के होते हैं मुमुक्षु और बुभुक्षु । उनमें "मुमुक्षुवैशरणमहं प्रपद्ये" अर्थात् आध्यात्मिक आदि त्रिविधतापजनित विविध सांसारिक दुःखों के अनुभव से उत्पन्न क्लेशादि के कारण विरक्ति भाव प्राप्त हुए अतएव मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु कहलाते हैं । उनके भी दो भेद है, एक तो भगवद्भाव को प्राप्त होने के इच्छुक दूसरे स्वरूप

प्राप्ति के इच्छुक । "मेरा भक्त तत्त्व बोध प्राप्त होने के पश्चात् मेरे भाव को प्राप्त होता है" इस भगवदुक्ति से भगवद् भावापत्ति काम वाला सिद्ध है । "स्वेन रूपेणाऽपिनिष्पद्यते" अर्थात् अपने ही स्वरूप साम्य भाव को प्राप्त होता है, इस श्रुति प्रमाण से स्वस्वरूपापत्तिकाम सिद्ध हुआ । विषयासक्त बुभुक्षु भी भाविश्रेयस्काम और नित्यसंसारी के भेद से दो प्रकार का होता है ॥८॥

अथ बद्धानां विशेषमाह सार्द्धद्वाभ्याम् ।

बन्धमोक्षार्हता तेषां शास्त्रमानेन गम्यते ।

इति, तेषां बन्धमोक्षार्हता बन्धमोक्षयोर्योग्यता वक्ष्यमाणरीत्या शास्त्रमानेन ज्ञायते पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोऽस्य बन्धविपर्य्ययाविति-न्यायात्, तत्र बन्धप्रकारमाह--

अनादिकर्मरूपेण मायायोगेन यन्त्रिता इति ॥९॥

अनादितो भगवत्पराङ्मुखत्वेनाऽनादितत्सङ्कल्पाच्चाऽनादिकर्मरूपा या माया कार्य्यकारणयोरभेदात् तस्या योगः सम्बन्धस्तेन यन्त्रिताः संनद्धाः सन्तो देवतिर्य्यङ्मनुष्यादिदेहजन्यदुःखादिकर्मफलमनुभवन्तः संसारचक्रे भ्रमन्तीत्यर्थः "अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानमितिश्रीभगवदुक्तेः--

अविद्याकर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा ॥
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् ।
तया तिरोहितत्वाच्चेत्यादिश्रीपराशरोक्तेः ॥

इसके अनन्तर बद्धजीवों की विशेषता बतायी जा रही है--उन अनन्त जीवों की बन्धन योग्यता और मोक्ष योग्यता शास्त्र प्रमाणों से जानी जाती है । "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययौ" अर्थात् बद्धावस्था में इस ब्रह्मांश जीव का स्वाभाविक सत्य संकल्प और ज्ञान तिरोहित हो जाता है, उस समय अनादि कर्मात्मिका माया से वह मोहित हो जाता है । परमात्मा के जीव-कर्मानुरूप सङ्कल्प से ही उसका बन्धन और

मोक्ष होता है, इस ब्रह्मसूत्र से "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः" इत्यादि स्मृति प्रमाण से भी जीव की बन्ध मोक्षार्हता कर्मानुसार भगवदधीन है ।

ये समस्त जीव अनादि कर्म रूप माया योग से आबद्ध रहते हैं। कार्य कारण का अभेद सम्बन्ध माना गया है । अनादिकाल से भगवत्पराङ्मुख होने से भगवत्सङ्कल्प से अनादि कर्म रूप माया से उसका सम्बन्ध हो जाता है । उसी से आबद्ध होकर देव-मनुष्य, पशु-पक्षी आदि शरीरों से उत्पन्न होने वाले नानाविध सुख-दुःखों को भोगते हुए संसार चक्र में घूमते हैं । भगवान् कहते हैं--"अज्ञानरूपी अन्धकार से जिनका ज्ञान रूपी प्रकाश ढक जाता है उसी से जीव मोहित हो जाते हैं ।" अर्थात् घटावृत्त दीपक की तरह अव्याप्त प्रकाश रहते हैं ।

महर्षि पराशर कहते हैं--"हे राजन् अविद्या कर्म नामवाली परमात्मा की जो तीसरी अपराशक्ति है उसने सर्वगत क्षेत्रज्ञ नामवाली पराशक्ति को आवृत्त कर रखा है । अतएव अति विस्तार रूप संसार के अविद्या शक्ति ने ही जीव के स्वाभाविक सत्यसंकल्पादि तिरोहित कर दिये हैं । अतः उसको अपने स्वरूप का बोध नहीं होता" इत्यादि स्मृति प्रमाणों का भी इसमें अनुसंधान करना चाहिए ॥९॥

(अथ मोक्षप्रकारमाह-) अब मोक्ष प्रकार कहते हैं ।

अहैतुक्या हरेर्विष्णोः कृपया चाऽथ संश्रयात् ।
मुच्यते नाऽत्र सन्देहस्तदुक्तेनैव वर्त्मना ॥१०॥
अर्चिरादिकया गत्या गच्छन्ति परमं पदम् ।
एवं प्रत्यक्स्वरूपं वै सङ्क्षेपेण निरूपितमिति ॥११॥

अहैतुकी निर्हेतुकी या श्रीविष्णोः कृपा तथा "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीश" मित्यादिश्रुतेः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।

इति श्रीमुखोक्तेश्च, कथमित्याशङ्क्याऽऽह आचार्य्यसंश्रयादिति सत्सम्प्रदायनिष्ठस्य शास्त्रोक्तलक्षणसम्पन्नस्य श्रीगुरोः संश्रयणात् सम्यक्-निर्मायिकश्रद्धाविश्वासार्ज्जवप्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिपुरःसरं श्रीगुरुं समाश्रित्ये-

त्यर्थः ल्यबर्थेयं पञ्चमी तथाच "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।"

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः--

इत्यादिश्रुतेः, अनयैव श्रुत्या गुरुशिष्ययोः लक्षणमपि निरूपितम् ।

भगवान् श्रीविष्णु की जिन पर जो अहैतुकी कृपा होती है उसी से ही उनको प्रभु प्राप्त होते हैं । "परमात्मा श्रीहरि जिस पुण्यात्मा का वरण करते हैं अर्थात् जिस पर अकारण कृपा करते हैं उसी को वे प्राप्त होते हैं । जो मुक्तात्मा सर्वेश्वर की अनुकम्पा से शोक रहित हो जाता है वह उस अकारण करुणा वरुणालय प्रभु का अपरोक्ष साक्षात्कार करता है और उनकी अलौकिक महिमा का अनुभव करता है" इस श्रुति से और "मेरे अनुग्रह से जीव मेरे अविनाशी शाश्वत् धाम को प्राप्त होता है" इस स्मृति से सिद्ध है कि जीव भगवत्कृपा के विना भव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता । भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष भगवत्कृपा साध्य है यह सिद्ध हुआ । भगवत्कृपा का भाजन कौन होगा ? और किस प्रकार ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं-- "आचार्यसंश्रयात्" अर्थात् अनादि अविच्छिन्न सत्सम्प्रदायनिष्ठ, शास्त्रोक्त लक्षण सम्पन्न, श्रीगुरु के समाश्रयण से अर्थात् सम्यक् प्रकार से छलकपट रहित श्रद्धा, विश्वास, विनम्रता से युक्त होकर प्रणाम करते हुए मैं कोन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है" इत्यादि प्रश्नों के साथ शुश्रूषा पूर्वक सद्गुरु का आश्रय लेकर उपासना करे । यहाँ पर "ल्यब्लोपे पञ्चमी" इस वार्तिक से पञ्चमी विभक्ति हुई है । शिष्य की कर्त्तव्य विधि के साथ समाश्रयणीय सद्गुरु का लक्षण बताते हैं--"उस परम तत्त्व को जानने के लिए विरागादिषट् सम्पत्ति युक्त शिष्य हाथ में समिधा, दर्भ, पुष्पादि साधन लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय सद्गुरु की शरण में जावे ।" शास्त्रों में श्रोत्रिय का स्वरूप बतलाया है-"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विजउच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते" अर्थात् ब्राह्मण दम्पति से उत्पन्न बालक को जन्म से ब्राह्मण जानना चाहिए । वही ब्राह्मण बालक उपनयनादि संस्कारों

से युक्त होता है तब द्विज कहलाता है । वही द्विज वेदादि शास्त्रों का विधिवत् गुरुमुख से अध्ययन करके उत्तम विद्या से सम्पन्न होता है तब वह विप्रत्व को प्राप्त होता है । इस प्रकार जन्म-संस्कार-विद्याओं से सम्बद्ध पुरुष श्रोत्रिय कहलाता है । "शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि । श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः" अर्थात् जो समस्त शास्त्र विद्याओं में तो पारङ्गत हो ब्रह्मविद्या में पारङ्गत नहीं है तो उसका परिश्रम उसी प्रकार निष्फल होता है जिस प्रकार विना दूध वाली गौ को पालने से दृष्ट फल रूप दूध के अभाव में केवल अदृष्ट फल ही उसको प्राप्त होगा । अतः जो गुरु शास्त्रज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ हो वही शिष्य का श्रेयः सम्पादन कर सकता है ।

"जिस शिष्य की निष्ठा भक्ति जिस प्रकार देवाधिदेव परमात्मा में है उसी प्रकार गुरु में भी हो तो उस महात्मा शिष्य के सभी पुरुषार्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं" इत्यादि श्रुति प्रमाणों से गुरु शिष्य के लक्षण भी यहाँ निरूपित किये गये ।

तथा हि श्रीभगवद्विज्ञानार्थी परमेश्वरवच्छ्रीगुरौ परभक्तिमान् मुमुक्षुः शिष्योऽत्र विवक्षितः शासनार्हत्वाच्छिष्य इति यावत्, श्रोत्रियः शास्त्रोक्त-भगवत्स्वरूपगुणादिविषयकशास्त्रज्ञानसम्पन्नो ऽन्यथा शिष्यसंशयनिरसना-ऽयोगात् किञ्च न केवलं शास्त्रमात्रावगाही अपि तु ब्रह्मनिष्ठः शास्त्रप्रतिपाद्य-परब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमविषयकसाक्षादनुभूतिमानितिलक्षणसम्पन्नो गुरुस्तमभि-गच्छेत् संश्रयेदितिश्रुतेर्निर्गलितार्थः ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
आचार्य्योपासनं शौच--
मित्यादिभगवद्वचनाच्च ।

"तद्विज्ञानार्थम्" इस श्रुति का प्रकारान्तर से भावार्थ बतलाया गया है--भगवत्तत्त्व जानने की इच्छा वाला, साधक जिस प्रकार परमेश्वर में परमभक्ति भाव रखता है उसी प्रकार श्रीगुरुदेव में भी "आचार्यं मां विजानी-यात्" के अनुसार सुदृढ भक्ति भाव रखने वाला मुमुक्षु ही यहाँ शिष्य रूप में

विवक्षित है । क्योंकि शासितुं योग्य इस व्युत्पति से शासन, अनुशासन करने योग्य जो हो उसे शिष्य कहते हैं ।

उसी प्रकार शास्त्रों में बताये हुए भगवत् स्वरूप गुण आदि प्रतिपादक जो शास्त्र हैं उनके ज्ञान से सम्पन्न पुरुष श्रोत्रिय कहलाते हैं । यदि गुरु में शास्त्र ज्ञान नहीं होगा तो शिष्य की शंका अथवा जिज्ञासा का समाधान नहीं कर पायेंगे । गुरु न केवल शास्त्रज्ञ हो अपितु ब्रह्मनिष्ठ भी होना चाहिए । शास्त्रों में प्रतिपाद्य परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम विषयक साक्षात् अनुभूति से सम्पन्न ऐसे ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जावे यह श्रुति का निष्कर्ष है । भगवद्गीता में भी शिष्य का निर्देश किया है--"भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--हे अर्जुन उस सब कर्मों से विलक्षण और सर्वविध फलदायक ज्ञान को अथवा उस ज्ञान के सर्वाधार परमात्मा को समझने के लिए सद्गुरु के पास जाकर श्रद्धा भक्ति पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके उनसे इस प्रकार जिज्ञासा करे "मैं कौन हूँ ? मैं कैसे बँधा हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मेरा नियन्ता कौन है ? मैं इस बन्धन से कैसे छूटूंगा ?" इत्यादि । फिर शुद्ध भाव से सेवा करे । इस प्रकार सेवा आदि से प्रसन्न होने पर शास्त्र ज्ञान से पूर्ण ज्ञानी पुरुष जिन्होंने शास्त्रार्थ भूत तत्त्वों का अपरोक्ष साक्षात्कार किया है वे तुमको जीव और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का युक्ति और प्रमाणों के साथ उपदेश करेंगे । आचार्य-सद्गुरु के सान्निध्य में रहकर स्नानादि सकल आचार पद्धति सीखे और फिर उपासना अर्थात् भगवद् आराधना करे ।

आचार्य्याश्रयणादुत्तरकृत्यमाह तदुक्तेनैव वर्त्मना इति, तदुक्तेनैव तदुपदिष्टेनैव नाऽन्यथेति अवधारणार्थः तदुपदिष्टसाधनमनुष्ठाय निर्मुक्तस्व-परस्वरूपादिविषयकसंशयास्तान्निदिध्यासनाभ्यासेन साक्षादनुभूय मुच्यन्ते, संशयो नात्र कार्य इत्याह, नाऽत्रसन्देह इति, तथा श्रुतयः "प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां ततस्तु तं पश्यति निष्फलं ध्यायमानः,

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः,
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे,

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्यादयः ॥१०॥

आचार्य का विधिवत् समाश्रयण प्राप्त करने के बाद साधक, शिष्य को क्या करना चाहिए इस विषय में कहते हैं--"तदुक्तेनैववर्त्मना" अर्थात् गुरु के द्वारा बताये हुए साधन मार्ग का अनुसरण करके ही अपने इष्ट के स्वरूप का चिन्तन करे जिससे जन्म-जन्मान्तरों से समुत्पन्न अज्ञान जनित सन्देह की निवृति हो ऐसे मुक्त संशय मुमुक्षु जन निरन्तर निदिध्यासन के अभ्यास से परमात्मा के सच्चिदानन्दमय स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर जन्म-मरण रूप भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं । इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । श्रुति भी कहती है "पूर्वोक्त लक्षण सम्पन्न शिष्य को सद्गुरु उस ब्रह्मविद्या का तत्त्व विवेचन पूर्वक उपदेश करते हैं । तब तो उपदेश प्राप्ति के अनन्तर वह मुमुक्षु अविच्छिन्न तपः साधना करता हुआ उस परमानन्द स्वरूप का साक्षात् दर्शन प्राप्त करता है ।" अन्य श्रुतियों का तात्पर्य भी उक्त विषय को पुष्ट करता है--"उस परात्पर ब्रह्म का श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार होने पर जन्म-जन्मान्तरीय वासनामय हृदय की ग्रन्थियाँ टूट जाती है और सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं । तदनन्तर उपासक के पाप पुण्यमय बन्धनात्मक समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं" जब वह ध्यान द्वारा परम दर्शनीय, तप्त काञ्चन कान्ति वाले, जगदभिन्न-निमित्तोपादानकारण कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वसमर्थवान्, ब्रह्मादिदेवों के भी जनक परमात्मा को देख लेता है तब वह विद्वान् सर्पों के केचुली की तरह पुण्य-पापों को पीछे छोड़कर निष्कलंक निर्विकार परम शुद्ध होकर परमात्मा की समता को प्राप्त होता है, इत्यादि ॥१०॥

तत्प्राप्तिप्रकारमाह अर्चिरादिकया गत्येति, "तेर्चिषमभिसम्भवन्ती" त्यादि ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

इति श्रुतिस्मृतिनिर्दिष्टमार्गेणेत्यर्थः परमं पदं गच्छन्तीति योजना, परं पदमित्यत्र पदशब्दः स्थानवाचकः, "क्षयन्तमस्य रजसः पराक" इति

"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् तदक्षरे परमे व्योमन् योऽस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय" इत्यादिश्रुतिभ्यः, अत्र रजस्तमसी शब्दौ स्वाश्रयभूप्रकृतिपरौ केवलयोः स्वाश्रयं विनाऽवस्थानायोगात् तथा च रजसः पराके प्रकृति-मण्डलपरतदुत्तरदेशे क्षयन्तं वसन्तं तमोवाच्यप्रकृतेः परं विलक्षणं आदित्यव-त्प्रकाशरूपं वर्णं यस्य तदित्यर्थः ।

भगवत्प्राप्ति का प्रकार बतलाते हैं--"अर्चिरादिकयागत्या" अर्थात् श्रुति-सूत्र-स्मृति आदि शास्त्रों में निर्दिष्ट अर्चिरादि मार्ग के द्वारा पुण्यात्मा पुरुष देहबन्धन छूटने पर परमधाम को प्राप्त होता है । "वे सर्वप्रथम सूर्य किरणों में प्रविष्ट होते हैं" इत्यादि श्रुति से । सभी श्रुतियों में अर्चिरादिमार्ग का एक ही स्वरूप वर्णित है । उसी मार्ग से ब्रह्मज्ञानी परम पद को प्राप्त होते हैं । "अर्चिरादिनातत् प्रथितेः" इस सूत्र से और "अग्निर्ज्योतिरहः" इत्यादि स्मृति से अर्चिरादि मार्ग का समान रूप ज्ञात होता है । भगवान् ने गीता में ब्रह्मज्ञानी और कर्मयोगी पितृयान अर्थात् चन्द्रमार्ग से स्वर्गादि लोकों में जाकर पुण्य क्षीण होने पर पुनर्जन्म धारण करता है । जो ब्रह्म की श्रद्धा पूर्वक उपासना करता है वह प्रयाण के समय सुषुम्णा द्वारा सर्वप्रथम अग्नि की ज्योतिर्मयपुञ्ज अथवा सूर्य किरण को प्राप्त होता है, उसके बाद दिन के अभिमानी देवता के पास, दिन से फिर पूरे पक्ष को, पक्ष से छ मास को, छ मास से उत्तरायण को, उत्तरायण के महीनों से, वर्ष, वर्ष से सूर्य, सूर्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से बिजली को प्राप्त होते हैं । वहाँ से अमानुष पुरुष उसको ब्रह्मलोक की सीमा विरजानदी तक पहुँचाता है । यही देवपथ ब्रह्म पथ है । इस मार्ग से जाने वाले विद्वान् पुनः संसार में नहीं आते । इसमें जो पक्ष, मास आदि शब्द है उनसे उनके अभिमानी देवता समझना चाहिए ।

परं पद से भगवद्धाम स्थान समझना चाहिए । "रजोगुण से परे ब्रह्म के स्थान को प्राप्त होता है" तमोगुण से परे सूर्य के समान अथवा उससे भी अधिक प्रकाशमान स्थान में पहुँच कर अमृतत्व को प्राप्त करता है" "उस परम आकाशरूपी गुहा में स्थित परमात्मा को जो जानता है, जो भगवत्कृपा

से उस अविनाशी व्योम का अध्यक्ष अधिष्ठाता हो जाता है वे नित्यमुक्त पुरुष उस भगवद्धाम में परमात्मा का सदा दर्शन प्राप्त करते हैं" इत्यादि श्रुतियाँ अर्चिरादि मार्ग से भगवद् भाव को प्राप्त होने वाले पुण्यात्माओं का स्वरूप निरूपण करती है । इन श्रुतियों में जो रज, तम शब्द हैं वे अपने आश्रय भूत प्रकृति परक हैं । केवल गुणों का आश्रय के विना अवस्थान असम्भव है । "प्रकृति मण्डल से परे उसके उत्तर देश में स्थित, तमोवाच्य से परे विलक्षण सूर्य के समान प्रकाश रूप वर्ण है जिसका उस परमधाम में" यह इसका तात्पर्य है । (महाभारते) महाभारत में--

दिव्यस्थानमजरं चाऽप्रमेयं दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम् ।
गच्छ प्रभो रक्ष चाऽस्मान् प्रपन्नान् कल्पे कल्पे जायमानः स्वमूर्त्येति देवानां वाक्यं, तत्रैव भीष्मः ।

प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ।
दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः ॥
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ।
विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद्व्याप्तमभूत्तदा ॥
तस्माच्चनिहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ।
इति, तत्रैव ।
ज्ञानविज्ञानिनः केचित्परं पारं तितीर्षवः ।
अतीव तत्पदं पुण्यं पुण्याभिजनसंवृतम् ॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ।
ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः ॥
वनपर्वणि च
यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं पराम् ।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं हरिम् ॥
ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।
देवाश्च यत्र पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं पदम् ॥

अत्यर्कानलसंदीप्तं स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ॥
यतयस्तत्र गच्छन्ति देवं नारायणं हरिम् ।
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ॥
स्थानमेतन्महाराज ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत्प्रमाणं च युधिष्ठिरेति ॥

वैष्णवेच--

एकान्तिनः सदा ब्रह्म ध्यायिनो योगिनो हि ये ।
तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥

इति, योगे याज्ञवल्क्ये च--

ॐकाररथमारुह्य मनः कृत्वा तु सारथिम् ।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी याति विष्णोः परं पदम् ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च सङ्क्षेपेणेति, अन्यत्र विस्तृतत्वादिति भावः ॥११॥

इति श्रीहयग्रीवानुग्रहाश्रितेन पुरुषोत्तमप्रसादाख्येन वैष्णवे-
न विरचितायामध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां प्रत्यगात्म-
निर्णयो नाम प्रथमस्तरङ्गः ॥१॥

ब्रह्मादि देवताओं ने लीलासंवरण के समय भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है--हे प्रभो ! आपने लीलावपुः धारण करके समग्र रूप में देव कार्य सम्पादन किया । अब अपने उस दिव्य धाम को पधारें जो उत्तम और अतुलनीय है । वह सर्वसाधारण को तो क्या ? अ स्मदादि देवों के लिए भी दुर्जेय है, केवल शास्त्रों के द्वारा जानने योग्य है, कल्प-कल्प, युग-युग में शरणापन्न हम देवों की रक्षा करें, अपनी लीला विभूति रूप से आविर्भूत होकर गो-विप्र सुर एवं सन्तों की सदा रक्षा करें । महाभारत अनुशासन पर्व में महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा--

"हे भारतवंश भूषण युधिष्ठिर ! जब इन्द्र और वृत्रासुर का घोर युद्ध चल रहा था तब परमात्मा ने इन्द्र के वज्र में प्रविष्ट होकर योग भ्रष्ट वृत्र को

विदीर्ण किया । इस प्रकार वज्र से विदीर्ण होने पर वह महायोगी असुर जिसने समर में ही अपने आराध्य का चिन्तन किया था दिव्य रूप धारण कर अमित तेजस्वी भगवन् विष्णु के परम स्थान वैकुण्ठ धाम को प्राप्त किया । क्योंकि उसकी भक्ति का प्रभाव उस समय तीनों लोकों में व्याप्त हो गया था । इसी प्रभाव से वह महान् असुर होते हुए भी युद्ध में वीर गति को प्राप्त होकर भगवद्धाम में पहुँच गया ।"

और भी बताते हैं--कुछ ज्ञानी जन भव सागर से पार होने की इच्छा रखते हुए उत्तम साधनों द्वारा भगवद् धाम प्राप्त कर लेते हैं । प्रभु का वह दिव्य धाम पुण्यात्माओं से घिरा रहता है, अतएव अतीव पावन है । जहाँ जाकर मुक्त जन कभी शोक नहीं करते, न उनको वहाँ से गिरने का डर होता है, नहीं किसी प्रकार की व्यथा उन्हें सताती है । वे सदा एक रस आनन्द का अनुभव करते रहते हैं । इस लोक में इस प्रकार के सत्व गुण सम्पन्न साधक जन देहान्त के पश्चात् देवपथ से ब्रह्म पद में पहुँचते हैं ।

महाभारत के वन पर्व में भी युधिष्ठिर के प्रति भगवान् व्यास कहते हैं--"हे भरतवंशोद्भव युधिष्ठिर ! जो अनादि अनन्त, परमतेजोमय, सर्वेश्वर, नारायण, श्रीहरि हैं, जिनको वेदवचन व महर्षिगण स्थूल जगत् की जनयित्री त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नियन्ता अर्थात् उसके भी परम कारण कहते हैं । इस प्राकृत ब्रह्माण्ड के सर्वोपरि परमेष्ठीपद से भी परे उन सर्वनियन्ता भगवान् महाविष्णु का वैकुण्ठधाम निरन्तर देदीप्यमान रहता है, जिस तेजोमय स्थल को देवगण देख नहीं पाते, जहाँ सूर्य, अग्नि की भाँति तो नहीं है किन्तु अनन्त सूर्य, अग्नि के तेजोराशि तुल्य प्रकाश अनवरत चमकता है, महाविष्णु का वह दिव्य धाम अपनी ही प्रभा से आलोकित है, उसकी उद्दीप्त ज्योति देवों और दानवों के लिए भी दुष्प्रेक्ष्य है । ब्रह्मज्ञानी यतिजन उस परम पद में पहुँच कर भगवान् नारायण श्रीहरि के सायुज्य भाव को प्राप्त होते हैं । वहाँ पहुँचने के बाद फिर इस मर्त्यलोक में नहीं लौटते । हे राजन् ! परमात्मा के इस स्थान को ध्रुव, अक्षय, अव्यय आदि शब्दों से निर्देश किया जाता है । यही सनातन प्रमाण है ।

विष्णु पुराण में भी इसी भगवद्धाम की महिमा का इस प्रकार वर्णन है--"जो योगी जन ऐकान्तिक भाव अर्थात् अनन्यता से ब्रह्म का सदा ध्यान करते हैं उन ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का प्राप्य वह परम स्थान है जिसका कि वे अमलात्मा ज्ञानी पुरुष निरन्तर साक्षात्कार करते हैं" इति । योग शास्त्र और याज्ञवलक्य स्मृति में निर्दिष्ट है--"ब्रह्मपथ से यात्रा करने वाला और ब्रह्मपद को प्राप्त करने का अभिलाषी ब्रह्मज्ञानी भक्त प्रणव रूपी रथ पर आरुढ होकर मन को सारथि बनाकर अर्चिरादि मार्ग से भगवान् विष्णु के परम पद मे पहुँच जाता है । इत्यादि स्मृतियों से भगवद्धाम के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया गया ।

अन्य आकर ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन किया हुआ है ॥११॥

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" हिन्दी व्याख्या का प्रथम तरङ्ग पूर्ण हुआ ।

✽ अथ द्वितीयस्तरङ्गः ✽

एतावता प्रत्यक्चेतनतत्त्वं लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूपितम्, इदानी-मचित्पदार्थतत्त्वं निर्देशलक्षणप्रमाणैः निर्णीयते ।

यहाँ तक के प्रकरण से भोक्तृ स्वरूप जीवात्मा का लक्षण प्रमाणों द्वारा निरूपण किया गया । अब भोग्य रूप अचेतन पदार्थ को उद्देश-लक्षण-प्रमाणों से निरूपित किया जाता है ।

अचेतनपदार्थं यच्चैतन्यगुणवर्जितम् ।
प्राकृतं कालरूपं चाऽप्राकृतं चेति तत्त्रिधा ॥१॥

जो चैतन्य गुण से रहित पदार्थ है उसे अचेतन कहते हैं वह प्राकृत काल और अप्राकृत के भेद से तीन प्रकार का होता है ।

यत्पदार्थं परार्थं स्वार्थहीनं चैतन्यगुणेन ज्ञानेन हीनं च भवति तदचेतनं बोध्यमितिशेषः तत्राऽचेतनमितिनिर्देशः परार्थे सति ज्ञानानधिकरणत्वमिति तल्लक्षणम्, एवं सामान्येनोक्त्वा तस्य विशेषमाह तत्त्रिधेति तदचेतनं त्रिविध-मित्यर्थः त्रैविध्यमेव लक्षणमुखेन विवेचयन्नादौ काललक्षणमाह ॥१॥

जो पदार्थ अन्य के उपयोग के लिए हो और स्वयं के उपयोग के लिए नहीं हो, तथा चेतनता रूपी गुण से हीन होता है उसको अचेतन पदार्थ जानना चाहिए । उसमें "अचेतनम्" यह पद उद्देश रूप है "परार्थत्वे सति ज्ञानानधिकारणत्वम्" यह उसका लक्षण है । इस प्रकार सामान्य रूप से कहकर उसका विशेष रूप कहते हैं "तत्त्रिधा" अर्थात् उस अचेतन तत्व के प्राकृत, कालस्वरूप, अप्राकृत ये तीन भेद है । अब अचेतन तत्व के तीनों भेदों का लक्षण द्वारा विवेचन करते हुए प्रथमतः कालरूप अचेतन का लक्षण बताते हैं ॥१॥

प्रकृतेस्तन्निबद्धानां कालः कलयितोच्यते ।
ब्रह्मात्मको ह्यनादिश्चाऽप्यनन्तो नित्य एव च ॥२॥

परमाणोः परार्द्धांतं तत्कार्य्यं मुनयो जगुः ।
चिरक्षिप्रादिबुद्धीनां कारणं च तथोच्यते ।।३ ।।

प्रकृति और प्रकृति बद्ध जीवों का नियमन करने वाला, ब्रह्माधीन, अनादि, अनन्त जो नित्य पदार्थ है उसे काल कहते हैं । परमाणु से लेकर परार्द्ध पर्यन्त उसका कार्यरूप है । चिर, क्षिप्र, आदि भेदों का कारण भी है ऐसा महर्षिजन कहते हैं ।

प्रकृतेस्तन्निबद्धानां प्रकृतिसंबद्धानां जीवानां च कलयितृत्वे सत्य-चेतनत्वं कालस्य लक्षणम्, अचेतनेत्युक्ते ऽप्राकृते ऽतिव्याप्तिस्तद्वारणाय प्रकृतिशब्दसन्निवेशः तथाभूतकलयितृत्वमात्रे परब्रह्मण्यतिप्रसङ्गापत्तिस्तद्वार-णायाचेतनत्वमिति, इतिपदसन्निवेशप्रयोजनं बोध्यं, "कालः कलयतामहम्" इति भगवदुक्तेः विभूतितद्वतोरभेदविवक्षया नाऽत्र विरोधः, तत्र स्वातन्त्र्यं वारयन्नाह ब्रह्मात्मकइति "ज्ञः कालकाल इतिश्रुतेः, अवस्तुत्वशङ्कां वारयति नित्य इति, हीति निश्चये परसंमतनित्यत्वे व्यभिचारवारणायाऽऽह अनादि-श्चाऽप्यनन्त इति आद्यन्तशून्य इत्यर्थः "अथ ह वा नित्यानि पुरुषः प्रकृतिः काल" इति श्रुतेः ।

अनादिर्भगवान्कालो नाऽन्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

इति पराशरोक्तेश्च, एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः नित्याभावविष-यकशङ्काभावमाह नित्यो नेतीति न अपि तु नित्य एव ।।२ ।।

प्रकृति, प्रकृति जन्यकार्य, और प्रकृति बद्ध जीवों का नियमन करते हुए जो अचेतन हो वह काल है, यह काल का सामान्य लक्षण है । इसमें यदि "अचेतन" इतना ही कहेंगे तो अप्राकृत भगवद्धाम में अतिव्याप्ति हो जावेगी, भगवद्धाम आदि तो दिव्य अपरिणामी है । अतः प्रकृति शब्द का समावेश किया है । उक्त लक्षण में यदि अचेतन पद नहीं देते हैं तब ब्रह्म में अति प्रसङ्ग हो जावेगा, अतः अचेतन पद भी आवश्यक है । इस प्रकार लक्षण में उक्त पदों का सन्निवेश सप्रयोजन है । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए कहा है "कालःकलयतामहम्" अर्थात् सबको ग्रसित करने वालों में काल मेरा स्वरूप है । यद्यपि उक्त लक्षण में

काल को अचेतन बताया, यहाँ भगवान् स्वयं का अपना स्वरूप बतलाते हैं, वह अचेतन कैसे ? ऐसी आशंका रहती है तथापि विभूति और विभूतिमान् में अभेद की विवक्षा से ऐसा कहा गया है वस्तुतः काल अचेतन पदार्थ ही है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है । अन्यथा अश्वत्थः सर्ववृक्षाणामित्यादि वाक्य भी विरुद्धार्थ वाचक मानने पड़ेंगे । अतः विभूति योग के उपसंहार में प्रभु कहते हैं--"यद्यद् विभूतिमत्सत्वं" अर्थात् जो जो विभूतिमत् पदार्थ है वह सब मेरे तेजो अंश से उत्पन्न हैं ।

सबका नियामक होने से कहीं उसमें स्वतन्त्रता न आ जाय एतदर्थ उसमें स्वातन्त्र्य भाव का वारण करते हुए "ब्रह्मात्मकः" यह विशेषण दिया गया है । प्राकृत वस्तुओं का नियन्ता होते हुए ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्माधीन है । "परमात्मा सर्वज्ञ और काल का भी नियन्ता है" इस श्रुति प्रमाण से काल भगवदधीन है यह सिद्ध हुआ । सबका नियन्ता होते हुए भी अचेतनत्वादि के कारण उसमें अवस्तुत्व न आजाय इसलिए "नित्यः" यह विशेषण दिया । मायावादी सम्मत केवल व्यावहारिक नित्यता का परिहार करते हुए अनादि अनन्त पद दिये हैं । "पुरुष, प्रकृति और काल ये नित्यवस्तु हैं" इस श्रुति प्रमाण से, "हे द्विज ! भगवान् काल अनादि है और इसका अन्त भी नहीं है" इस पराशर स्मृति से भी काल आद्यन्त शून्य नित्य रूप है यह सिद्ध हुआ । यहाँ "एव" शब्द अन्य योग के व्यवच्छेद हेतु प्रयुक्त है । नित्य के अभाव विषयक शंका निवारणार्थ कहा नित्य नहीं हैं ऐसा नहीं अपितु नित्य ही है" इसी प्रकार दृढी करणार्थ प्रयुक्त है ॥२॥

तत्कार्य्यं दर्शयति परमाणोरिति, परमाणोरारभ्य घटिकाप्रहरदिवसपक्षमासवत्सरादिपरार्द्धपर्य्यन्तं तत्कार्य्यं कालस्योपादेयरूपकार्य्यं मुनयः पराशरव्यासादयो जगुरित्यनेन नाऽत्र विस्तारापेक्षेति द्योतितं पुराणेषु द्रष्टव्यं, कार्य्यान्तरमाह चिरक्षिप्रादिबुद्धीनामिति तत्प्रतीतिव्यवहाराणामित्यर्थः आदिशब्द इदानींयुगपद्भूतभविष्यद्वर्तमानादिसंग्रहार्थः स चाऽखण्डत्वात् स्वरूपेण नित्यः कार्य्यरूपेणाऽनित्यः तत्कार्य्यं चौपाधिकम् । उपाधिश्च सूर्य्यपरिभ्रमणरूपा क्रियैवेति तस्य चाऽल्पाधिकपरिमाणदेशसंयोगात्पर-

माण्वादिकालव्यवहारो वेदान्तरत्नमञ्जूषादौ पूर्वाचार्य्यैर्विस्तृत इति, किञ्च सर्वं प्राकृतं वस्तु आब्रह्मभुवनं कालभक्ष्यं न तत्र विवेकिभिर्मुमुक्षुभिरभिनिवेशः कर्तव्य इत्यत्र कालनिरूपणस्य प्रयोजनं, ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनामप्यैश्वर्य्यं नश्वरङ्का-लतन्त्रत्वात् कर्मजन्यत्वाच्च इहलोकवृत्तिराज्यादिवत्, "यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत" इत्यनुमानागमा-भ्यामित्यभिप्रायेणाऽऽह तथोच्यत इति विवेकिभिर्न तु पण्डितमानिभिर्मूर्खै-रितिशेषः ॥३॥

कालतत्व का कार्यरूप दिखाते हैं--परमाणु काल से लेकर कला, काष्ठा, घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्षादि परार्द्ध पर्यन्त का समय उस नित्यरूप काल का उपादेय रूप कार्य है ऐसा पराशर व्यास प्रभृति मुनियों ने विपुल रूप से स्मृति पुराणों में बतलाया है । अतः यहाँ उसके विस्तार की अपेक्षा नहीं है । चिरक्षिप्र आदि कार्यान्तरों की प्रतीति रूप व्यवहार का असाधारण कारण भी है । यहाँ आदि शब्द से इदानीं युगपद्, भूत भविष्यत् वर्तमान प्रभृति का ग्रहण समझना चाहिए । वह काल अखण्ड रूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य है । उसका कार्य भी औपधिक होता है उपाधि क्या ? उसको बताते है सूर्य के परिभ्रमण रूप जो क्रिया है वही काल की उपाधि है । उस उपाधि का स्वल्प और अधिक परिमाण वाले देश के संयोग से परमाणु आदि काल का व्यवहार समझना चाहिए । पूवाचार्यों ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा आदि ग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन किया है ।

और भी स्पष्ट करते हैं--सम्पूर्ण प्रकृति जन्य वस्तु ब्रह्मलोक पर्यन्त विस्तृत भुवनमण्डल काल का भक्ष्य है, विवेकी मुमुक्षुजनों को स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए । यहाँ यह काल निरूपण का मुख्य प्रयोजन है । क्योंकि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि देवों का ऐश्वर्य भी कालतन्त्र होने से नश्वर हैं । पुण्य कर्म से प्राप्य होने के कारण इस लोक में संग्रह किये गये घृत धान्यादि की तरह क्षीयमाण है । "जिस प्रकार यहाँ पर लौकिक कर्म से सञ्चय किया गया पदार्थ क्षीण होता है उसी प्रकार पर लोक में भी

पुण्य कर्म से सञ्चय किया गया उत्तम भोग भी क्षीण हो जाता है" इत्यादि अनुमान और शास्त्र प्रमाणों से ब्रह्मलोक पर्यन्त के भोगों की आकांक्षा मुमुक्षुजनों को नहीं करनी चाहिए यह बात विवेकी विद्वान् ही कह सकते हैं। अपने आपको पण्डित समझने वाले अविवेकी जन नहीं कह सकते ॥३॥

अथ प्राकृतं निरूपयति लक्षणमुखेन--

अब प्राकृत तत्व का निरूपण लक्षण पूर्वक किया जाता है--

सत्त्वादेराश्रयं द्रव्यं प्राकृतं तद्गुणास्त्रयः ।
सत्त्वं रजस्तम इति जीवबन्धनहेतवः ॥४॥
महदाद्यण्डपर्य्यन्तं कार्य्यं कारणमेव च ।
स्वतन्त्रसत्तया हीनं कालतन्त्रं च नित्यदा ॥५॥
परिणामादिभिर्युक्तं नित्यं चाऽनित्यमेव च ।
कारणं नित्यमेवाऽत्राऽनित्यं कार्य्यं प्रचक्षते ॥६॥

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों का आश्रय रूप तत्त्व प्राकृत कहलाता है। उसके उक्त तीन गुण जीवात्मा के बन्धन के कारण हैं। महत् तत्त्व से लेकर ब्रह्माण्ड तक का जो वस्तु है वह सब कारण रूप और कार्य रूप है। स्वतन्त्रता से रहित निरन्तर काल के अधीन रहने वाला है। बृद्धि ह्रास आदि परिणामों से युक्त, कारण रूप में नित्य कार्य रूप में अनित्य कहलाता है ॥४-६॥

सत्त्वादिगुणाश्रयत्वं प्राकृतस्य लक्षणं बोध्यम् "अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां सिताऽसिता च रक्ता च" इतिश्रुतेः गुणानेवाह तद्गुणास्त्रयइति तस्य प्राकृतस्य त्रयो गुणा बोध्या इतिशेषः तान्निर्दिशति सत्त्वं रजस्तम इति तत्र ज्ञानादिकारणत्वे सति गुणत्वं सत्त्वगुणत्वं सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमिति-श्रीमुखोक्तेः रजसो लोभ एव चेति वचनात् लोभादिहेतुत्वे सति गुणत्वं रजस्त्वं प्रमादादिकारणत्वे सति गुणत्वं तमस्त्वं प्रमादमोहौ तमस इतिवचनात् अथ तेषां विशेषकार्य्यमाह जीवबन्धनहेतव इति जीवानां संसारचक्रभ्रामणे ऽसाधा-रणकारणानीत्यर्थः तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघे--तिवचनात्,

किंचेदमेव सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय उत्कटं सत् श्रीमुखोक्त-शमदमादिसाधनकदम्बाचरणद्वारेण मोक्षसाधारण हेतुरपि भवतीति ज्ञातव्यं शमो दमस्तपः शौचमित्यादीनां मोक्षोपायानां तस्यैव कार्य्यत्वादित्यभिप्रायः, अन्यथा सत्त्वात् संजायते ज्ञानमित्युक्तविरोधात् ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ॥
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारते--
तिवचनात् ॥४॥

"सत्त्वादिगुणाश्रयत्वं" सत्वादि गुणों का आश्रय रूप होना प्राकृत पदार्थ का लक्षण समझना चाहिए । "प्रकृति को अजा कहा गया है क्योंकि वह नित्य और कारण रूप है, वह एक है, गुणों के भेद से रजोगुणाबद्ध होने पर लाल, सत्व गुण से शुक्ल और तमोगुण से कृष्ण (कालावर्ण) बताया है । दूसरे शब्दों में सिता-शुक्लरूपा, असिता कृष्णरूपा और रक्ता लोहित-रू पा है ।" इस श्रुति प्रमाण से प्रकृति स्वरूपतः एक होने पर भी गुण भेद से अनेक है यह सिद्ध हुआ । उसके उन तीनों गुणों का स्वरूप लक्षणों सहित विवेचन करते हैं । उद्देशतः--सत्व, रजः तमः ये तीनों गुणों के नाम है । उनमें "ज्ञानादिकारणत्वे सति गुणत्वम्" अर्थात् ज्ञानादिका कारण होते हुए जो गुण हो वह सत्वगुण कहलाता है । "सत्वात्संजायते ज्ञानम्" सत्वगुण से ही ज्ञान की वृद्धि होती है । इस गीता प्रमाण से सत्व गुण का स्वरूप निरूपित हुआ । इसी प्रकार "रजसोलोभ एव च" अर्थात् रजो गुण से लोभ उत्पन्न होता है, इस प्रमाण से "लोभादिहेतुत्वे सति गुणत्वं रजस्त्वं" लोभादि का कारण होते हुए जो गुण है वह रजोगुण होता है । "प्रमादमोहौतमसः" अर्थात् तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं ।

इस वचन से "प्रमादादिकारणत्वे सति गुणत्वं तमस्त्वम्" प्रमादादि का कारण होते हुए जो गुण हो वह तमोगुण है इत्यादि गुणों के स्वरूप लक्षण

कहे गये है । अब उनके विशेष कार्य बतलाते हैं । "जीवबन्धन हेतवः" अर्थात् जीवों के संसार चक्र में घूमाने में ये गुण असाधारण कारण है । उनमें सत्व गुण निर्मल और प्रकाशक होने से सुखदायी है । हे निष्पाप अर्जुन ! वह सत्व गुण सुख के संग से और ज्ञान के संग से जीवों को बांधता है । अतः बन्धन सुखप्रद रहता है । यही सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत (दवा) कर उत्कृष्ट रूप में पहुँचाता हुआ भगवन्निर्दिष्ट शम, दम आदि साधनों के आचरणों से मोक्ष के लिए असाधारण कारण भी होता है ऐसा समझना चाहिए । शम, दम, तपस्या, शौच (पवित्रता) इत्यादि उपायों को साधन बताया गया है । इसी अभिप्राय से "सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है" ऐसा कहा है । अन्यथा पूर्वापर की उक्ति में विरोध हो जाता । हे कुन्तीनन्दन ! "रजोगुण को रागात्मक जानो, वह तीव्रलालसा (तृष्णा) से उत्पन्न होता है । इसी कर्म सङ्ग से आत्मा को बांध लेता है । अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण समस्त प्राणियों को मोह में डालने वाला है, प्रमाद, आलस्य और निद्रा से पीड़ित करता हुआ जीवों को बांध लेता है । इत्यादि वचन प्रमाण हैं ॥४॥

अथ कार्य्यं संग्रहेण दर्शयति ॥

अब उस प्राकृत कार्य को संक्षेप में दिखाते हैं ।

महदाद्यण्डपर्यन्तं कार्य्यम् इति तन्मूलमाह कारणमेवचेति कारणं मायाप्रकृतिप्रधानाव्यक्तादिपदाभिधेयमित्यर्थः "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" "अव्यक्तात्पुरुषः पर" इत्यादिश्रुतेः तत्स्वरूपमाह स्वतन्त्रसत्तया हीनमिति तन्त्रं नाम परतन्त्रसत्तायुक्तं परस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य विश्वात्मनो नियन्तुस्तन्त्राधीना परतन्त्रा चासौ सत्ता चेति तदाश्रयमित्यर्थः यदासीदधीनमासीदितिश्रुतेः एतेन निरीश्वरसांख्यपक्षो निरस्तः । सांख्यैः तस्य स्वातन्त्र्याभ्युपगमात् ब्रह्मात्मकत्वादेरप्युपलक्षणं ब्रह्मात्मकं तदाधेयं तद्व्याप्यं चेत्यर्थः पूर्वोक्तं सिद्धान्तं विरागार्थं स्मारयति कालतन्त्रमिति सर्वावस्थासु सृष्टिस्थितिभङ्गादिषु कालाधीनमित्यर्थः ॥५॥

"महदाद्यण्डपर्यन्तं कार्यम्" महत्तत्व (बुद्धि) से लेकर पृथ्वी पर्यन्त त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्ड प्रकृति का कार्यरूप है और स्वयं माया, प्रधान, प्रकृति, अव्यक्त आदि पदों से कहा जाने वाला कारण रूप प्रकृति है । "माया तो प्रकृति को समझना चाहिए" इत्यादि में प्रकृति शब्द, "परमात्मा प्रधान और जीव का स्वामी है" इसमें प्रधान शब्द "अव्यक्त से परे है" इसमें अव्यक्त शब्द उक्त कथन में प्रमाण है । उसका स्वरूप स्वतन्त्र सत्ता से रहित अर्थात् परतन्त्र सत्ता वाला है । सर्वनियन्ता विश्वात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के अधीन है सत्ता जिसकी उस तत्त्व को प्राकृत तत्त्व कहते हैं । श्रुति कहती है--"जब भी जिस रूप में भी था वह परमात्मा के अधीन था ।" उपर्युक्त कथन से निरीश्वर वादी सांख्यों का मत निरस्त हो जाता है । सांख्य मत में प्रकृति को स्वतन्त्र कहा है । वही जगत् का निर्माण करती है, आत्मा साक्षी रूप में केवल द्रष्टा है । ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते । "स्वतन्त्र सत्तया हीनम्" यह पद जीवात्मा के विशेषण में प्रयुक्त ब्रह्मात्मक, तदाधेय, तद्व्याप्यत्व आदि पदों का भी उपलक्षण है । उपलक्षण उसको कहते हैं जो प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त शब्द अपने अर्थ का बोध कराते हुए प्रकरणान्तर में आये स्वसमान शब्दों के अर्थ का भी बोध करता है ।

"स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वमुपलक्षणम्" इत्यादि ।

परतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र सत्ता इन्हीं के कारण ब्रह्म के साथ जीव, जगत् का स्वाभाविक द्वैताद्वैत (भेदाभेद) सिद्धान्त आचार्यों ने स्थापित किया है । ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता वाला और जीव, जगत् परतन्त्र सत्ता वाले हैं । अतः निम्बार्क दर्शन समन्वय दर्शन है तथा वास्तविक भी है । उसी का स्मरण कराते है "कालतन्त्रम्" अर्थात् सृष्टि-स्थिति संहार आदि सभी अवस्थाओं में प्राकृत तत्व कालाधीन है ॥५॥

परतन्त्रसत्तायाश्चेतनेऽपि सत्त्वात्तद्विवेकदर्शनाय विशेषान्तरमाह परिणामादिभिर्युक्तमिति परिणामिसत्ताकं तर्हि मिथ्यैव स्यादित्याशङ्क्याह नित्यं चानित्यमेव चेति नित्यानित्ययोरितरेतरविरोधित्वात् कथमुभयत्व-योगइतिचेत्तत्राह--

कारणं नित्यमेऽवात्रानित्यं कार्य्यं प्रचक्षत--

इति अत्रानयोर्द्वयोर्मध्ये कारणं नित्यमेव प्रपञ्चमूलत्वात् आद्यन्त-शून्यत्वं नित्यत्वं गौरनाद्यन्तवतीतिश्रुतेः ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपीति-

श्रीमुखोक्तेः । अथ भारते वार्ष्णेयाख्याने भीष्मः,

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ।

उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तराविति,

कार्य्यं त्वनित्यमेव उत्पत्तिनाशवत्त्वात् ।

अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः ।

प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मिका ।

अक्षयं नान्यदाधारममेयमचरं ध्रुवम् ॥

हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्ययेतिस्मृतिभ्यश्च ।

जिस प्रकार प्राकृत पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और उसका प्रलय आदि ब्रह्म के अधीन होने से वह परतन्त्र सत्तावान् है उसी प्रकार जीवात्मा की स्थिति और प्रवृत्ति भी ब्रह्म के अधीन होने से वह भी परतन्त्र सत्तावान् हो गया । अतः चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं रहेगा ? ऐसी स्थिति में अचेतन का लक्षण चेतन में जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जावेगा । उसके परिहार के लिए "परिणामादिभिर्युक्तम्" "ह्रास, वृद्धि, सित, रक्तादि परिणामों से युक्त है" ऐसा विशेषण दिया गया । जीव जन्मादिषड् विकार रहित होने से परिणामी नहीं है । अतः उक्त दोष का परिहार हुआ ।

प्राकृत अचेतन को जब परिणामी मानते हैं तब तो वह मिथ्या (असत्य) ही हुआ । सिद्धान्त में उसे नित्य माना है यह कैसे ? इस आशंका का परिहार करते हुए कहते हैं--नित्य भी है अनित्य भी है । यह तो और विषमता उपस्थित हुई, नित्य और अनित्य ये दोनों परस्पर विरोधी तत्व है इन दोनों की एकत्र स्थिति कैसे सम्भव हो ? इसका समाधान किया "इसमें

कारण रूप से वह नित्य ही है व कार्यरूप से अनित्य है ऐसा कहा गया है" "गौरनाद्यन्तवती" इस श्रुति वचन से कारण रूप प्रकृति जगत्प्रपञ्चका मूलबीज होने से आदि अन्त रहित नित्य है । इस प्रकार नित्य, अनित्य के विषय में कारण को नित्य और कार्य को अनित्य समझना चाहिए । अतः किसी प्रकार की विषमता नहीं है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-"प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों अनादि रूप हैं ऐसा समझो ।" महाभारत के वार्ष्णेयाख्यान प्रसङ्ग में महात्मा भीष्म ने कहा है--

"दोनों प्रकृति और पुरुष अनादि, अनन्त हैं, ये दोनों लिङ्ग भेद रहित हैं, दोनों नित्य और अविचल हैं, तथा महान् से भी महान् है । इत्यादि

उत्पत्ति और विनाशशील होने से कार्य रूप प्राकृत तत्व तो अनित्य ही होता है । जो अव्यक्त कारण है उसे महर्षियों ने प्रधान, प्रकृति, सूक्ष्म, सदसदात्मक नित्य आदि शब्दों से व्यवहृत किया है । वह अक्षय, स्वयं स्थित, अप्रमेय, अचर, समस्त प्रपञ्च का हेतु रूप ध्रुव है । वही परा प्रकृति है । भगवान् कहते हैं--"मेरी दैवी माया बड़ी बलवती है, यह त्रिगुणमयी है" यहाँ माया शब्द उसी मूल प्रकृति का वाचक है । उपर्युक्त स्मृति प्रमाणों से प्रकृति और तन्निर्मित प्राकृत वस्तु नित्य और अनित्य बतलाये गये हैं ।

सृष्टिक्रमश्च प्रलयावसाने सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्ये कारणीभूतप्राणि-कर्मसहकृतात् अनन्ताचिन्त्यशक्तेः श्रीपुरुषोत्तमात् प्रकृतौ विक्षेपो जायते तत आदौ सात्त्विकादिभेदावच्छिन्नस्त्रिविधो महानुत्पद्यते ततो ऽहंकारः सोऽपि त्रिविधः वैकारिकतैजसभूतादिभेदात् वैकारिकाहंकारादिन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च तदेववृत्तिभेदात् स्थानभेदाच्चान्तःकरणचतुष्टयसंज्ञां लभते मनोबुद्धि-चित्ताहंकाररूपां, तत्र मननसंकल्पादिहेतुर्मनः इदमेव मनः शब्दादिसंबद्धं सद्बन्धहेतुः तत्परित्यागेन सपरिकरश्रीभगवत्प्रावण्ये सति मोक्षहेतुश्च ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं स्मृतम् ॥

इतिवचनात्, बोधनहेतुर्बुद्धिः देहादावहंकरणहेतुरहंकारः चिन्तनहेतु-श्चित्तं तेषां चन्द्रब्रह्मरुद्रक्षेत्रज्ञा देवताः क्वचिच्चैषां वासुदेवादयश्चतुर्व्यूहदेवता

अधिष्ठातृत्वेनोच्यन्ते तेषां मन आदि षूपास्यत्वेन प्रतिपादनान्नोक्तसिद्धान्त-विरोधः चन्द्रादीनामधिष्ठातृत्वं व्यूहदेवानां तदन्तर्यामितयोपास्यत्वमित्यभि-प्रायः ।

अब सृष्टि क्रम बतलाते हैं--प्रलय का समय पूरा होने पर विचित्रता पूर्ण प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम कारणीभूत प्राणी मात्र की कर्मोपासना को साथ लेकर अनन्त अचिन्त्य शक्ति संवलित निखिल जगदभिन्न निमित्तोपादानकारण परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम के संकल्प से मूल प्रकृति में विक्षेप (हलचल) उत्पन्न होता है । उस भगवत्संकल्पकृत विक्षुब्ध प्रकृति से सात्विक-राजस-तामस गुण वाला महान् अर्थात् बुद्धितत्व उत्पन्न होता है । उसी त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व से वैकारिक-तैजस-भूतादि (सात्विक-राजस-तामस) नाम के भेद से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न होता है उनमें वैकारिक (सात्विक) से इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता और मन पैदा होते हैं । वही वृत्ति भेद और स्थान भेद से मन, बुद्धि, चित्त अहंकार रूप अन्तःकरण चतुष्टय की संज्ञा प्राप्त करता है । उनमें मनन, चिन्तन, संकल्प, विकल्प आदि का असाधारण कारण मन है, वही मन शब्द स्पर्शादि विषयों से सम्बद्ध करता हुआ बन्धन का कारण बनता है । उन विषयों को त्याग कर सकल इन्द्रियों सहित भगवद् गुण रूप के चिन्तन में तन्मय हो जाता है तब वही मोक्ष का असाधारण कारण भी होता है । "मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है, विषयों में आसक्त होने पर भवबन्धन का कारण होता है और विषय रहित होने पर मोक्ष का कारण समझना चाहिए । इत्यादि स्मृति वचन इसमें प्रमाण हैं ।

बोध अर्थात् ज्ञान का असाधारण कारण बुद्धि है । देहादि में अहं भाव का असाधारण कारण अहंकार और चिन्तन का असाधारण कारण चित्त है । इन चारों के अधिष्ठातृ देवता मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के रुद्र और चित्त के क्षेत्रज्ञ (जीव) है । कहीं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ये चतुर्व्यूह देवता इनके अधिष्ठातृ देवता कहे गये हैं । मन आदि अन्तःकरणों में प्रद्युम्नादि व्यूह देवता का उपास्यत्व रूप से प्रतिपादन

किया गया है अतः इसमें विरोध नहीं है । मन का उपास्य प्रद्युम्न, बुद्धि का अनिरुद्ध, अहंकार का संकर्षण तथा चित्त का वासुदेव उपास्य माना गया है । चन्द्र आदि देवों को अधिष्ठातृ कहना व्यूह देवताओं का उसमें अन्तर्यामी भाव से उपास्यत्व है यह अभिप्राय है ।

अथ तैजसाहङ्कारादिन्द्रियाणि इन्द्रियत्वं च ज्ञानकर्मैकतरकरणत्वं तानि द्विविधानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्म्मेन्द्रियाणि च, शब्दादिज्ञानकरणत्वं ज्ञानेन्द्रियत्वं तानि पञ्च श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणभेदात् शब्दमात्रग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रं स्पर्शमात्रग्राहकमिन्द्रियं त्वक् रूपमात्रग्राहकमिन्द्रियं चक्षुः रसमात्र-ग्राहकमिन्द्रियं रसनं गन्धमात्रग्राहकमिन्द्रियं घ्राणं तेषां दिग्वातार्कवरुणा-श्विन्योऽधिष्ठात्र्यो देवताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च विषयाः ।

तैजस (राजस) अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है । ज्ञान के असाधारण कारण ज्ञानेन्द्रिय कर्म के असाधारण कारण कर्मेन्द्रिय है अतः ज्ञान कर्म के भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की कही गयी है । उनमें शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांचों विषयों के ज्ञान के असाधारण कारण ज्ञानेन्द्रिय कहलाते हैं । श्रोत्र (कान), त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं । शब्द मात्र को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय श्रोत्र है, इसी प्रकार स्पर्श मात्र को ग्रहण करने वाला त्वगिन्द्रिय, रूप मात्र को ग्रहण करने वाला चक्षुरिन्द्रिय, रस मात्र को ग्रहण करने वाला रसनेन्द्रिय एवं गन्ध मात्र को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय घ्राण (नासिका) है । इनके क्रमशः दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण और आश्विनीकुमार अधिष्ठातृ देवता हैं । शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये इनके विषय हैं ।

वचनादानादिक्रियाकरणं कर्म्मेन्द्रियं वाक्पाणिपादपायूपस्थसंज्ञकानि पञ्च, तत्र वर्णोच्चारणासाधारणहेतुरिन्द्रियं वाक् शिल्पादानाद्यसाधारणहेतु-रिन्द्रियं पाणिः विहरणक्रियासाधारणकरणमिन्द्रियं पादः मलविसर्गासाधारण-करणमिन्द्रियं पायुः आनन्दविशेषकरणमिन्द्रियमुपस्थ इति तेषां वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठात्र्यो देवताः वचनादानविहरणविसर्गानन्दाः पञ्चः कर्मा-

णीति विवेकः, तानि चाऽणुपरिमाणकानि प्रति शरीरं भिन्नानि आमोक्षव्यव-स्थितिस्वभावकानि च ।

वचन आदान आदि के असाधारण कारण कर्मेन्द्रिय कहे गये हैं । वे भी वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ के भेद से पाँच ही है । वर्णों के उच्चारण का असाधारण कारण वागिन्द्रिय है । उसी प्रकार शिल्प कला और पदार्थ ग्रहण का असाधारण कारण रूप इन्द्रिय पाणि, गमनादि क्रिया का असाधारण कारण रूप इन्द्रिय पाँव, मल त्याग का असाधारण कारण रूप इन्द्रिय पायु (गुदा) और आनन्द विशेष का असाधारण कारण रूप इन्द्रिय उपस्थ (लिङ्ग) है । अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मृत्यु, प्रजापति ये उनके अधिष्ठातृ देवता हैं । वचन, आदान, विहरण, विसर्ग और आनन्द ये पांच इनके कर्म हैं । वे कर्म भी अणु रूप से प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष पर्यन्त स्वाभाविक रूप से शरीर में रहते हैं ।

अथ भूतादिसंज्ञकतामसाहंकाराच्छब्दादिपञ्चतन्मात्राणि आकाशा-दिपञ्चमहाभूतानि चोत्पद्यन्ते उक्तलक्षणाहंकारस्य महाभूतानां चान्तरालिकं व्यवहितसूक्ष्मपरिणामात्मकं द्रव्यं तन्मात्रशब्दवाच्यं दुग्धदध्नोरान्तरालिक-कललादिपरिणामवत् तदेव स्थूलावस्थापन्नं भूतशब्दाभिधेयं भवति एवं च तामसाहङ्काराच्छब्दतन्मात्रं तत आकाशः आकाशात्स्पर्शतन्मात्रं ततो वायुः, वायो रूपतन्मात्रं ततस्तेजस्तेजसो रसतन्मात्रं ततो जलं जलाद्गन्धतन्मात्रं ततः पृथिवीति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चैतेषां गुणाः तेषां विवेकश्च शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः पृथिव्या गुणास्तेषु गन्धहीनाश्चत्वारोऽपां गुणास्तेषु गन्धरसहीना-स्त्रयो गुणा अग्नेः शब्दस्पर्शावितिवायोः शब्द आकाशस्येति श्रुत्या ज्ञेयः, अनयैवैषां लक्षणमप्युक्तं तथाहि गन्धासाधारणगुणवत्त्वे सति शब्दादिमत्त्वं पृथिवीत्वं रसासाधारणगुणाश्रयत्वे सति गन्धराहित्यं जलत्वं रूपासाधारण-गुणकत्वे सति गन्धरसहीनत्वं तेजस्त्वं स्पर्शासाधारणगुणाश्रयत्वे सति रूप-रसगन्धशून्यत्वं वायुत्वं तत्र देहधारणासाधारणहेतुर्वायुः प्राणः स च पञ्चधा प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात्, स्पर्शाद्यनाधारत्वे सति शब्दमात्राश्रयत्व-

माकाशत्वमिति इत्थं प्रकृतिमहदहंकारा मनो दशेन्द्रियाणि तन्मात्रपञ्चक भूत-पञ्चकश्चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि प्राकृतानि तत्र प्रकृतिमहदहंकारा पञ्चमहा-भूतानि च स्थूलदेहस्योपादानकारणानि इन्द्रियाणि भूषणे रत्नानीव तदाक्रम्य स्थितानि पञ्चतन्मात्राणि मनो दशेन्द्रियाणि प्राणश्च सूक्ष्मदेहस्योपादानानि तत्र प्राणस्य स्पर्शतन्मात्रकार्य्यत्वात् तेनैकीकृत्य श्रुतौ षोडशसंख्यात्वव्यदेशः "इमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती" त्यादि ।

अब तामस अहंकार के कारण बतलाते हैं--भूतादि अहंकार जिसको तामस अहंकार कहते हैं उससे-शब्दादि पञ्च तन्मात्रा और आकाश आदि पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं । तामस अहंकार और महाभूतों के बीच का जो व्यवहित अन्तराल है उसमें जो सूक्ष्म रूप द्रव्य है वही तन्मात्रा है । जैसे-दूध और दही के बीच का कलल परिणाम द्रव्य होता है । वही सूक्ष्म द्रव्य स्थूल अवस्था को प्राप्त होने पर भूत शब्द से व्यवहृत होता है । जैसे दूध दही के अन्तराल का सूक्ष्म कलल स्थूल अवस्था में दधि रूप में व्यवहृत होती है । ठीक इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के रजवीर्य के सम्बन्ध से कलल रूप और बाद में वही स्थूल भाव से शरीरादि संज्ञा प्राप्त करता है । इस प्रकार तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रा और उससे तेज की उत्पति होती है । तेज से स्पर्श तन्त्रा और उससे वायु का प्रादुर्भाव होता है । वायु से रूप तन्मात्रा तथा उससे तेज की उत्पति होती है । तेज से रस तन्मात्रा, रसतन्मात्रा से जल का उद्‌भव होता है, जल से गन्ध तन्मात्रा और उससे पृथिवी की उत्पत्ति होती है । शब्दादि विषय आकाशादि महाभूतों के गुण हैं । उनका समन्वय इस प्रकार समझना चाहिए,

पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों गुण विद्यमान रहते हैं । गन्ध को छोड़कर रसपर्यन्त के चार गुण जल में रहते हैं । गन्ध रस को छोड़कर तीन गुण अग्नि में रहते हैं । वायु में स्पर्श और शब्द ये दो गुण रहते हैं किन्तु आकाश में तो केवल एक शब्द गुण ही रहता है । इसी प्रकरण द्वारा इन पञ्च महाभूतों के लक्षण भी कहे गये है । जैसा कि--

गन्ध रूप असाधारण गुण के होते हुए शब्दादि गुणों का आश्रय भी होना पृथिवी है । रसरूप असाधारण गुण का आश्रय होते हुए गन्ध रहित होना जलत्व है । रूप रूपी असाधारण गुण का आश्रय होते हुए गन्ध रस हीनत्व होना तेजस्त्व है । स्पर्श रूप असाधारण गुण का आश्रय होते हुए रूप रस गन्ध शून्यत्व होना वायु का स्वरूप है । उसमें देह कारण का असाधारण कारण जो वायु है वह प्राण कहलाता है । वह प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान के भेद से पांच प्रकार का होता है । स्पर्शादि चारों गुणों का अनाश्रय होते हुए, केवल शब्द गुण का आश्रय होना आकाशत्व है । इस प्रकार मूल प्रकृति, महान् (बुद्धि) अहंकार, मन दश दन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूत ये चौबीस तत्व प्राकृत कहलाते हैं । उनमें प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और पञ्च महाभूत स्थूल शरीर के उपादान कारण हैं । इन्द्रियां अलङ्कारों में रत्नों की तरह स्थूल देह को आक्रान्त करके अवस्थित रहती हैं । पञ्च तन्मात्रा, मन, दश इन्द्रियाँ, प्राण ये १७ तत्व सूक्ष्म (कारण) शरीर के उपादान हैं । उनमें प्राण को स्पर्श तन्मात्रा का कार्य मानकर उसके साथ एकीकरण करने पर श्रुति प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के षोडश तत्व की संगति हो जाती है । "आत्मा के आश्रय भूत सोलह कलाएं भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होने पर अस्त होती है अर्थात् छूट जाती है" इत्यादि श्रुति वचन इसमें प्रमाण है ।

शरीरत्वं नाम चेतननियताधेयत्वे सति तद्भोगायतनत्वं चेतनायत्त-स्थितिप्रवृत्तिकत्वे सति तदपृथक्सिद्धत्वं वा तद्द्विविधं नित्यानित्यभेदात् तत्र नित्यं विश्वमङ्गलाश्रयं परमयोगिध्येयं ध्यातृपुरुषार्थचिन्तामणिरूपं श्री-रमाकान्तगोपीनयनाह्लादमूर्तेः श्रीविग्रहं नित्यमुक्तानां पार्षदादीनां स्वाभाविक-मनुष्यपक्षिभूषणाद्याकारं च तच्चाग्रे वक्ष्यते । अनित्यमपि द्विविधम् अकर्मजं तज्जन्यं चेति आद्यमीश्वरस्य विराडादिरूपं गरुडादीनां मुक्तानां भगवदिच्छाय त्ततदिच्छाया तत्तदाकारकं च, कर्मजन्यं च कर्मतारतम्यादनेकविधं देवति-र्य्यङ्मनुष्यनारक्यादिभेदात् जरायुजाण्डजादिभेदाच्च महदादिशरीरान्तं तत्तद-वस्थापन्नमपि प्रकृत्यभिन्नमेव तत्कार्य्यत्वात् मृन्मयं घटाद्यवस्थापन्नमपि यथा

मृदभिन्नं तद्वत्कारणद्रव्यमेवावस्थान्तरापन्नं सद्रूपं च कार्य्यत्वेनाभिधीयते "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् सन्मूलाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इत्यादिश्रुतेः अन्यथा कार्य्योत्पत्तिरेव न स्यात् न हि गगनकुसुमादेरुत्पत्तिः क्वापि दृष्टा श्रुतिगोचरा "असतः सम्भवः कुत" इतिस्मृतेः तस्मात्सदेवकार्य्य-मुत्पद्यते तदपृथक्सिद्धं चेति राद्धान्तः ।

शरीर उसको कहते हैं जो नियत रूप से चेतन का आधेय होते हुए उसके भोग का साधन भी हो । अथवा चेतन (आत्मा) के अधीन स्थिति प्रवृत्ति वाला होते हुए चेतन से पृथक् सत्ता जिसकी सिद्ध न हो वह शरीर होता है । नित्य और अनित्य के भेद से शरीर दो प्रकार का होता है । उसमें विश्व मङ्गलाश्रय अर्थात् समस्त मङ्गलमय गुणों का आधार, श्रेष्ठ योगी जनों का भी ध्येय, ध्यान करने वालों को धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थ देने में चिन्तामणि के समान भगवती महालक्ष्मी के प्रियतम, गोपियों को नेत्रों से सदा आह्लादित करने वाले भगवान् श्रीहरि का श्रीविग्रह नित्य है, उसी प्रकार नित्यमुक्त पार्षदों के स्वाभाविक मनुष्य-पक्षी-आभूषण आदि आकार भी नित्य हैं ।

अनित्य शरीर भी दो प्रकार का होता है । एक अकर्मज और कर्म-जन्य । प्रथम - अकर्मज परमात्मा का विराट् स्वरूप आदि तथा गरुड प्रभृति मुक्त जीवों के भगवदिच्छा के अधीन उन्हीं की इच्छा से पक्षी आदि तत् तत् आकार वाला होता है । कर्मजन्य शरीर कर्म के तारतम्य से देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, नारकीय आदि भेद से और जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है । जिस प्रकार मिट्टी के विकार रूप घट, शकोरा आदि विभिन्न आकारों में पहुँचने पर भी वे मिट्टी से अलग नहीं रह सकते उसी प्रकार महत्तत्व (बुद्धि) से लेकर शरीर (पृथ्वी) पर्यन्त तत् तत् अवस्था को प्राप्त होने पर वह सब मूल प्रकृति से भिन्न नहीं है क्योंकि उपादान प्रकृति का कार्य रूप होने से तदभिन्न ही माना जाता है । कारण द्रव्य ही दूसरी अवस्था में पहुँचता हुआ सद्रूप कार्य से अभिहित होता है । श्रुति वचन को प्रमाण रूप में उपस्थापित करते हैं, "हे सौम्य सृष्टि

से पूर्व यह दृश्यमान प्रपञ्चात्मक जगत् सद् नित्य अव्यक्त रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि समस्त प्रजा (सृष्टि समूह) सन्मूल, सत्-आश्रित एवं सत् में प्रतिष्ठित है ।

यदि कारण सत् नहीं हो तो कार्य की उत्पति ही नहीं होगी । क्योंकि जिसका आश्रय असिद्ध हो तो उस आश्रित की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं है । आकाश पुष्प की उत्पति न तो कहीं देखी न ही सुनी गयी है । स्मृति में भी कहा गया है--"असत् कारण से वस्तु की उत्पति कैसे सम्भव होगी, एक सिकता कण जैसे तैल दान में असमर्थ है वैसे सिकता समूह भी तैल दान में असमर्थ ही है । अतः सत् रूप होने से ही कार्य की उत्पति होती है और अपने उपादान से वह अपृथक् सिद्ध भी है । जैसे एक तिल में तैल की सत्ता, दूध की एक बूंद में घृत की सत्ता अक्षुण्ण है तभी तिल समूह, विपुल दुग्ध से तेल, घृत की उपलब्धि होती है उसी प्रकार जब सृष्टि से पूर्व भी कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से विद्यमाान रहती है तब वह सृष्टि के आरम्भ में व्यक्त रूप से प्रकट होती हैं । एतावता असत्कार्यवाद का निराकरण स्वतः होता है ।

प्रकृत्यादीनि चेतनानां भोग्यतत्करणतत्स्थानरूपेणानेकविधानि तत्र भोग्यं शब्दादिकं तद्विशिष्टद्रव्यं च अन्नपानादिकं तत्र करणं शरीरेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिकं भोगस्थानानि तत्तददृष्टनिमित्तकब्रह्माण्डवृत्तिचतुर्दशभुवनानि स्वर्गनरकादिभेदभिन्नानि सुखदुःखादिभोगायतनानि तान्येव प्रकृत्यादीनि श्री-पुरुषोत्तमस्य क्रीडातदुपकरणतत्स्थानानि, ब्रह्माण्डं च कपित्थाकारं पञ्चीकृत-महाभूतारब्धं चतुर्दशभुवनगर्भकं मुमुक्षुहेयं प्राकृतं चेति, भुवनानि च भूर्लोक-भुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोकतपोलोकसत्यलोकाख्यानि सप्त अत-लवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्यानि च सप्त तच्च ब्रह्माण्डं दशगुणोत्तरोत्तरावरणैः पञ्चमहाभूताख्यैरहङ्कारमहत्तत्त्वाभ्यां चावृतम् ।

प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त चौबीस तत्वों का समुदाय जीवों के भोग्य, करण, स्थान रूप से विभक्त है । उनमें भोग्य है शब्द-स्पर्श-रूप-

रस-गन्ध और उनसे सम्बद्ध द्रव्य आकाशादि तथा अन्नपानादि । उन उन कर्मों से जनित फल रूप अदृष्ट के कारण प्राप्त होने वाले ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह भुवन, सुख दुःख आदि भोगों के घर स्वर्ग-नरकादि लोक । वे ही प्रकृत्यादि भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के लीला विहार स्थल हैं । ब्रह्माण्ड का स्वरूप है कपित्थ फल के आकार तुल्य, वह पञ्चीकरण प्रक्रिया से परस्पर न्यूनाधिक रूप में सम्मिलित पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन पञ्च महाभूतों से आरब्ध चतुर्दश भुवनात्मक मुमुक्षुजनों का हेय त्रिगुणात्मक प्राकृत है । चौदह भुवन हैं--भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक ये सात ऊपर के लोक हैं, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल ये सात पृथ्वी से नीचे के लोक हैं । इन्हीं चौदह लोकों को स्वर्ग, मर्त्य, पाताल नाम से त्रिलोक की संज्ञा दी गयी है । वह ब्रह्माण्ड भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश जो क्रमशः उत्तरोत्तर दशगुना अधिक विस्तृत हैं उनसे और अहङ्कार तथा महतत्त्व से घिरा हुआ है ।

एवमेकब्रह्माण्डसन्निवेशः ईदृशानन्तकोटिब्रह्माण्डानीश्वरविभूत्यात्मके प्रधाने ऽर्णवोदके बुद्बुदानीव भ्रमन्ति अत एव तस्याप्यनन्तत्वं महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दवाच्यं चतुर्मुखावसाना सृष्टिः साक्षात्परमेश्वरनिर्मिता तदुत्तरा च चतुर्मुखादिद्वारेण परम्परयेतिविवेकः, महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दाभिधेयं यथा सेनावनधान्यराश्यादयः तेषामेकैकदेशमादाय क्रियमाणो व्यवहारः अस्मदादिबुद्धीन्द्रियशरीरादिको व्यष्टिशब्दवाच्यः यथा वृक्षधान्यादिव्यवहारः ।

इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड का सन्निवेश (परिमाण) बताया गया हैं । ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्मा सर्वेश्वर के विभूति स्वरूप प्रधान महार्णव के जलराशि में बुद बुद की तरह घूमते हैं । महतत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के समुदाय को समष्टि कहते हैं । चतुर्मुख ब्रह्मा पर्यन्त की सृष्टि साक्षात् परमेश्वर द्वारा निर्मित है, उसके बाद की सृष्टि चतुर्मुख ब्रह्मादि के द्वारा पर-

से पूर्व यह दृश्यमान प्रपञ्चात्मक जगत् सद् नित्य अव्यक्त रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि समस्त प्रजा (सृष्टि समूह) सन्मूल, सत्-आश्रित एवं सत् में प्रतिष्ठित है ।

यदि कारण सत् नहीं हो तो कार्य की उत्पति ही नहीं होगी । क्योंकि जिसका आश्रय असिद्ध हो तो उस आश्रित की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं है । आकाश पुष्प की उत्पति न तो कहीं देखी न ही सुनी गयी है । स्मृति में भी कहा गया है--"असत् कारण से वस्तु की उत्पति कैसे सम्भव होगी, एक सिकता कण जैसे तैल दान में असमर्थ है वैसे सिकता समूह भी तैल दान में असमर्थ ही है । अतः सत् रूप होने से ही कार्य की उत्पति होती है और अपने उपादान से वह अपृथक् सिद्ध भी है । जैसे एक तिल में तैल की सत्ता, दूध की एक बूंद में घृत की सत्ता अक्षुण्ण है तभी तिल समूह, विपुल दुग्ध से तेल, घृत की उपलब्धि होती है उसी प्रकार जब सृष्टि से पूर्व भी कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से विद्यमाान रहती है तब वह सृष्टि के आरम्भ में व्यक्त रूप से प्रकट होती हैं । एतावता असत्कार्यवाद का निराकरण स्वतः होता है ।

प्रकृत्यादीनि चेतनानां भोग्यतत्करणतत्स्थानरूपेणानेकविधानि तत्र भोग्यं शब्दादिकं तद्विशिष्टद्रव्यं च अन्नपानादिकं तत्र करणं शरीरेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिकं भोगस्थानानि तत्तददृष्टनिमित्तकब्रह्माण्डवृत्तिचतुर्दशभुवनानि स्वर्गनरकादिभेदभिन्नानि सुखदुःखादिभोगायतनानि तान्येव प्रकृत्यादीनि श्री-पुरुषोत्तमस्य क्रीडातदुपकरणतत्स्थानानि, ब्रह्माण्डं च कपित्थाकारं पञ्चीकृत-महाभूतारब्धं चतुर्दशभुवनगर्भकं मुमुक्षुहेयं प्राकृतं चेति, भुवनानि च भूर्लोक-भुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोकतपोलोकसत्यलोकाख्यानि सप्त अत-लवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्यानि च सप्त तच्च ब्रह्माण्डं दशगुणोत्तरोत्तरावरणैः पञ्चमहाभूताख्यैरहङ्कारमहत्तत्त्वाभ्यां चावृतम् ।

प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त चौबीस तत्वों का समुदाय जीवों के भोग्य, करण, स्थान रूप से विभक्त है । उनमें भोग्य है शब्द-स्पर्श-रूप-

रस-गन्ध और उनसे सम्बद्ध द्रव्य आकाशादि तथा अन्नपानादि । उन उन कर्मों से जनित फल रूप अदृष्ट के कारण प्राप्त होने वाले ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह भुवन, सुख दुःख आदि भोगों के घर स्वर्ग-नरकादि लोक । वे ही प्रकृत्यादि भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के लीला विहार स्थल हैं । ब्रह्माण्ड का स्वरूप है कपित्थ फल के आकार तुल्य, वह पञ्चीकरण प्रक्रिया से परस्पर न्यूनाधिक रूप में सम्मिलित पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश इन पञ्च महाभूतों से आरब्ध चतुर्दश भुवनात्मक मुमुक्षुजनों का हेय त्रिगुणात्मक प्राकृत है । चौदह भुवन हैं--भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक ये सात ऊपर के लोक हैं, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल ये सात पृथ्वी से नीचे के लोक हैं । इन्हीं चौदह लोकों को स्वर्ग, मर्त्य, पाताल नाम से त्रिलोक की संज्ञा दी गयी है । वह ब्रह्माण्ड भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश जो क्रमशः उत्तरोत्तर दशगुना अधिक विस्तृत हैं उनसे और अहङ्कार तथा महतत्त्व से घिरा हुआ है ।

एवमेकब्रह्माण्डसन्निवेशः ईदृशानन्तकोटिब्रह्माण्डानीश्वरविभूत्यात्मके प्रधाने ऽर्णवोदके बुद्‌बुदानीव भ्रमन्ति अत एव तस्याप्यनन्तत्वं महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दवाच्यं चतुर्मुखावसाना सृष्टिः साक्षात्परमेश्वरनिर्मिता तदुत्तरा च चतुर्मुखादिद्वारेण परम्परयेतिविवेकः, महदादिपृथिव्यन्तं समष्टिशब्दाभिधेयं यथा सेनावनधान्यराश्यादयः तेषामेकैकदेशमादाय क्रियमाणो व्यवहारः अस्मदादिबुद्धीन्द्रियशरीरादिको व्यष्टिशब्दवाच्यः यथा वृक्षधान्यादिव्यवहारः ।

इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड का सन्निवेश (परिमाण) बताया गया हैं । ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्मा सर्वेश्वर के विभूति स्वरूप प्रधान महार्णव के जलराशि में बुद बुद की तरह घूमते हैं । महतत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के समुदाय को समष्टि कहते हैं । चतुर्मुख ब्रह्मा पर्यन्त की सृष्टि साक्षात् परमेश्वर द्वारा निर्मित है, उसके बाद की सृष्टि चतुर्मुख ब्रह्मादि के द्वारा पर-

म्परा से रचित है । महदादि पृथिव्यन्त समष्टि पदवाच्य तत्त्व सेना, वन धान्य राशि की तरह है । उनका एक एक भाग लेकर किया जाने वाला हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि का व्यवहार व्यक्ति, वृक्ष, धान्य की तरह व्यष्टिपद वाच्य है ।

पञ्चीकरणप्रक्रिया च भगवाञ्च्छ्रीपुरुषोत्तमः पृथिव्यादिपञ्चमहा-भूतानि सृष्ट्वा द्विधा विभज्य द्वयोर्भागयोः स्वभागमेकं पृथङ् निधाय द्वितीय भागं पुनश्चतुःकृत्य चतुर्भागांश्च भूतान्तरेषु चतुर्षु संयोजयति एवञ्चिकीर्षितेषु पञ्चस्वपि भूतेषु एकैकस्य भूतस्यार्द्धं स्वभागो द्वितीयार्द्धं चतुर्णां भूतानां भागेषु योजनमिति, तथाच स्वभागस्य भूयस्त्वेनान्यभागानामल्पत्वेन पृथिव्यादि-पृथग्व्यवहारोऽप्यविरुद्धः पञ्चीकृतत्वादेव शब्दादिपञ्चविषयाणां पञ्चस्वप्युप-लम्भः सूपपन्नः ।

पञ्चीकरण प्रक्रिया क्या है ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं-- सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् श्रीपुरुषोत्तम पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतों की सृष्टि करके उनका प्रत्येक के दो दो भागकर एक-एक भाग अलग रखते हैं । दूसरे भागों को फिर चार-चार भाग करके उन चार-चार भागों में से आकाश के वायु, तेज, जल, पृथ्वी में मिलाया जाता है । इसी प्रकार वायु के चार भागों को आकाश, तेज, जल, पृथिवी में, तेज के आकाश, वायु, जल, पृथिवी में, जल के आकाश, वायु, तेज, पृथिवी में, पृथिवी के चार भागों को आकाश, वायु, तेज, जल में मिलाते हैं । इस प्रकार मिलान करने पर पाचों भूतों का एक-एक भाग एक दूसरे में मिलाया जाता है किन्तु अपना आधा भाग अपने पास होने से उसकी अधिकता से पृथिवीत्वादि व्यवहार होता है । इसमें कोई विरोध नहीं है । इस पञ्चीकरण प्रक्रिया के कारण ही शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन पांचों विषयों का प्रत्येक पञ्चमहाभूतों में उपलब्ध होना युक्ति युक्त होता है ।

किञ्च महदादिशरीरान्तेषु मध्ये शरीरं ह्यन्नविकारत्वादन्नमयः पुरुषो ऽभिधीयते मन एव कर्मेन्द्रियसहितं सत् मनोमयः पुरुषः प्राणादिपञ्चकं कर्मे-

न्द्रियसहितं सत् प्राणमयः पुरुषो विज्ञानमय पुरुषो जीवात्मा, आनन्दमयः पुरुषश्च परमात्मा परं ब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम इति संक्षेपः ।

(पञ्चकोष) पञ्च पुरुष के विषयों में कहते हैं--महत्तत्त्व से लेकर शरीर पर्यन्त के तत्त्वों के बीच शरीर तो अन्न का विकार होने से अन्नमय पुरुष कहलाता है । मन ही ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर विषयानुभूति करने से मनोमय पुरुष कहलाता है । प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान ये पांच प्रकार का प्राण ही पञ्च कर्मेन्द्रिय से सम्बद्ध रहने से प्राणमय पुरुष कहा गया है । विज्ञानमय पुरुष ही जीवात्मा तथा आनन्दमय पुरुष तो परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम ही है । इस प्रकार सृष्टि का दिग्दर्शन संक्षेप में किया गया है ।

अथ सृष्टिव्युत्क्रमेण प्रलयो न तु कारणनाशक्रमेण कारणनाशानन्तरमनाधारस्य कार्यस्य स्थित्यनुपपत्तेः, क्रमश्च पृथिवी गन्धतन्मात्रद्वारेणाप्सु लीयते आपो रसतन्मात्रद्वारेण तेजसि तेजो रूपतन्मात्रद्वारा वायौ वायुश्च स्पर्शतन्मात्रद्वाराऽऽकाशे स च शब्दतन्मात्रद्वारा तामसाहङ्कारे इन्द्रियाणि स्वकारणभूते राजसाहङ्कारे मनो देवताश्च वैकारिके त्रिविधोऽप्यहङ्कारो महति स चाव्यक्ते सोपि पुरुषे स च ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमइतिसङ्क्षेपः ।

अथ प्रलय का स्वरूप दर्शाते हैं--जिस क्रम से सृष्टि हुई है उसके ठीक विपरीत क्रम से प्रलय होता है किन्तु कारणनाश के क्रम से कार्यनाश नहीं होता क्योंकि कारणनाश के बाद आधार हीन होने पर कार्य की स्थिति सम्भव नहीं होगी । अतः प्रलय का क्रम बतलाते हैं--सर्वप्रथम पृथिवी गन्धतन्मात्रा के साथ जल में विलीन होती है । जल रसतन्मात्रा के द्वार से तेज में, तेज रूप तन्मात्रा सहित वायु में वायुस्पर्श तन्मात्रा के साथ आकाश में, आकाश शब्द तन्मात्रा के साथ तामस अहङ्कार में, इन्द्रियाँ अपने कारण स्वरूप राजस अहङ्कार में लीन होती हैं । मन और इन्द्रियों के देवता सात्विक अहङ्कार में लीन होते हैं । इसी प्रकार यह तीनों अहङ्कार महत्तत्व (बुद्धि) में और बुद्धि अव्यक्त रूप मूल प्रकृति में मूल प्रकृति जीव में तथा जीव परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम में लीन होते हैं । इस प्रकार यह प्रलय का संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है ।

अस्य विस्तरः श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणपूर्वकं वेदान्तरत्नमञ्जूषायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादैर्निरूपितस्तत्रैव तज्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् । इति प्राकृतपदार्थसंग्रहः ॥६॥

इस प्रसङ्ग का विस्तार तो श्रुति स्मृति सूत्रादि प्रमाण पूर्वक वेदान्तरत्नमञ्जूषा में श्रीपुरुषोत्तमाचार्य चरणों ने निरूपित किया है, जिज्ञासु जनों को विशेष ज्ञान के लिए उसमें ही देखना चाहिए । यहाँ तक प्राकृत अचेतन पदार्थ का निरूपण किया गया ॥६॥

अथाऽप्राकृतं निरूपयति--

सूर्य्यवर्णं ततो भिन्नं तमसः परमुच्यते ।
अनावरकरूपं चाप्राकृतं विद्ध्यचेतनम् ॥७॥

अब अप्राकृत अचेतन तत्व का निरूपण करते हैं--प्राकृत और काल से भिन्न सूर्य के समान तेजो रूप प्रकृत्यादि से परे अनावरक स्वभाव वाला जो अचेतन तत्त्व है उसे अप्राकृत वस्तु समझना चाहिए ।

ततस्ताभ्यां पूर्वनिरूपिताभ्यां प्राकृतकालाभ्यां भिन्नमत्यन्तविलक्षणं तत्र हेतुमाह सूर्य्यवर्णमिति, प्रकाशात्मकं सूर्य्यस्यापि प्राकृतत्वाविशेषात् प्राकृतमेव स्यादित्याशङ्का तु ततो भिन्नमिति पूर्वोक्तविशेषणेनैव निरस्ता तत्र प्रमाणमाह तमसः परमुच्यत इति श्रुतिभिरितिशेषः आदित्यवर्णं तमसः परस्तादित्यादिश्रुतिप्रमाणसिद्धमित्यर्थः, अनावरकरूपं चेति आवरकस्वभावशून्यं तथाभूतमचेतनं वस्तु अप्राकृतं विद्धीतिसंबन्धं श्रोत्रपेक्षया मध्यमपुरुषप्रयोगो ऽविरुद्धः, एतेन श्रुतिनिरूपितमेवेदं लक्षणमित्युक्तं भवति तथा च आदित्यवत्प्रकाशरूपं प्रकाशकं च तमोवाच्यप्रकृत्यादेः परमितिश्रुत्यर्थः त्रिगुणाश्रयप्रधानकालाभ्यां विलक्षणं प्रकाशात्मकमनावरकस्वभावमचेतनद्रव्यं तत्त्वमिति श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादोक्तेः, एतेन त्रिगुणात्मकद्रव्यभिन्नमपि शुद्धमायाकार्य्यमेवेति पक्षनिरासः ।

उन पूर्व निरूपित प्राकृत, काल पदार्थ से भिन्न जो अत्यन्त विलक्षण है वह अप्राकृत पदार्थ है । उसकी विलक्षणता का हेतु दर्शाते हैं--"सूर्यवर्णम्"

वह प्रकाशात्मक है । यद्यपि सूर्य का भी प्राकृत ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत होने से प्राकृत होना स्वभावसिद्ध है फिर भी विलक्षणता कैसे हुई ? यह आशंका होती है तथापि मूल में "ततो भिन्नं" कहने से उक्त शंका का निराकरण हो जाता है । इस विषय में प्रमाण दर्शाते हैं "तमसः परमुच्यते" अर्थात् आदित्य के समान स्वयं प्रकाश रूप तथा प्रकाशक, तमः पदवाच्य प्रकृति आदि से परे ऐसा श्रुति वचन का भाव होने से दिव्य है यह सिद्ध हुआ । दूसरी बात वह अनावरक स्वभाव वाला है अर्थात् आवरक स्वभाव से शून्य है । अतः त्रिगुणाश्रय प्रधान और काल से विलक्षण प्रकाशात्मक, अनावरक स्वभाव वाला अचेतन द्रव्य को अप्राकृत तत्त्व समझो । यहाँ पर "विद्धि " यह मध्यम पुरुष की जो क्रिया है वह श्रोता को लक्ष्य करके प्रयुक्त है अतः कोई विरोध नहीं है । श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणों ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा में यही भाव व्यक्त किया है । एतावता जो लोग इस अप्राकृत तत्व को त्रिगुणात्मक द्रव्य भिन्न होते हुए भी शुद्धमाया कार्य ही है ऐसा कहते हैं उनका पक्ष स्वतः निरस्त होता है ।

तत्र प्राकृतमण्डलबहिर्वृत्तिनित्यविभूतिपरमव्योमविष्णुपदपरम-पदादिशब्दाभिधेयमपरिच्छिन्नमेव प्राकृतदेशवृत्ति ह्यवतारविभूत्याख्यं तु लीलार्थं भगवत्संकल्पात्परिच्छिन्नमिव दृश्यमानमप्यपरिच्छिन्नमेवाचिन्त्य-शक्तियोगात् तच्च श्रीभगवद्गीतैकादशाध्याये विश्वरूपाख्ये श्रीमुखेनैव गीतं पार्थाय साक्षाद्दर्शितं च तदेवं भगवदीयानादिसंकल्पात्तस्य तदीयानां नित्य-मुक्तानां च भोग्यतदुपकरणादिरूपं तत्र भोग्यं भगवद्विग्रहादि भोगोपकरणं च भूषणायुधयानासनालङ्कारकुसुमपत्रफलादि स्थानं च गोपुरचत्वरप्राकारमणि-मण्डपसभावनोपवनसरोवर वाप्यादिकं, तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च विग्रह-संस्थानं तदीयानाद्यनन्तेच्छासिद्धं स्वाभाविकं यावदात्मवृत्ति बद्धमुक्तानां तु भगवत्प्रसादलभ्यसाक्षात्कारनिवृत्तप्रकृतिसंबधानाम् अनादिसिद्धैरेव विग्रहा-दिभिर्योगमात्रं न तु तत्र जन्यत्वादिविकारशङ्कापि निर्विकारत्वात् । यथोत्सवा-दिसमये प्राक्सिद्धा एव वस्त्रभूषणालङ्कारादयो महाराजैः स्वभृत्येभ्यो दीयन्ते तथैव प्रकृतिवियोगसमये पूर्वसिद्धनित्यनिर्विकारतत्सेवोपकरणार्हा विग्रहा-

दयोऽपि श्रीपुरुषोत्तमेन दीयन्ते ।

वह अप्राकृत धाम प्राकृत मण्डल से बाहर अवस्थित नित्य विभूति, परमव्योम, विष्णुपद परमपद आदि शब्दों से निरूपित होता है, अतएव परिच्छेद शून्य है । कृष्ण स्तवराज में उसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है-- "पारशून्य परमधामतेऽद्भुतं चिद्घनं जयति लोक मूर्धनि । व्यापकं च परिखा सरिद्वराऽचिन्त्य शक्ति नवमङ्गल ध्वनि ।" हे श्रीकृष्ण ! आपका परमधाम सर्वोत्कर्ष रूप से सर्वोपरिवर्तमान है । आपके सान्निध्य में रहने वाले नित्यमुक्तादि द्रष्टाओं के प्रतिक्षण नये नये आनन्द देने के कारण आश्चर्या-वह है । आपका वह धाम प्रकाशानन्द मूर्ति होने से समस्त प्राकृत सम्बन्धों से रहित है । परिच्छिन्न (ससीम) के तुल्य अवभासमान होने पर भी आपका परधाम आपके विश्वरूप के सदृश परिच्छेद शून्य होने से व्यापक है । सरिताओं में श्रेष्ठ विरजानदी उस दिव्यधाम की परिखा (सीमा) है । वह विष्णुपद परिच्छिन्न के सदृश दिखाई देने पर भी अचिन्त्य शक्तियुक्त है, अतः उसके व्यापक होने में कोई विरोध नहीं है । उस परमधाम में "जितं ते पुण्डरीकाक्ष ।" इत्यादि आपके स्वरूपगुणादि विषयक स्तोत्र पाठात्मक अथवा सामगानादि रूप मङ्गलात्मक ध्वनियाँ होती हैं ।

अवतारं विभूतिरूप प्राकृत देश के अन्तर्गत वृन्दावन, मथुरा, द्वारका आदि धाम भगवल्लीलार्थ होने से प्रभु के सङ्कल्पानुसार परिच्छिन्न (ससीम) के समान दीखने पर भी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से अपरिच्छिन्न (असीम) ही है । उसे श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दर्शन कराते समय स्वयं प्रभु ने कहा, साक्षात् दर्शन भी कराया । वही दिव्य अप्राकृत वस्तु भगवान् के अनादि सङ्कल्प मात्र से उनका और उनके नित्यमुक्त अनन्य पार्षदों का भोग्य और उपकरणादि हैं । उनमें भोग्य तो भगवद् विग्रह आदि हैं । भूषण-आयुध, यान, आसन, अलङ्कार, पुष्प, तुलसीदल, फल आदि भोग के उपकरण कहे गये हैं । गोपुर, आंगन, परिखा, मणि मण्डप, सभा भवन, वन, उपवन, सरोवर, बाबड़ी इत्यादि उनके लीला विहार स्थल बतलाये गये हैं ।

उनमें परमेश्वर और उनके नित्य मुक्त पार्षदों का विग्रह धारण तो स्वयं की अनादि अनन्त इच्छा से सिद्ध, स्वाभाविक स्वतन्त्र सत्तारूप है, किन्तु भगवदनुग्रह से प्राप्त साक्षात्कार द्वारा निवृत्त हो गया है प्राकृत सम्बन्ध जिनका ऐसे बद्धमुक्त जीवों का अनादि सिद्ध दिव्य विग्रहादियों से योग मात्र होता है ।

उनके निर्विकार रूप होने से किसी प्रकार जन्यत्वादि विकार की शंका नहीं करनी चाहिए । जिस प्रकार प्राकृत लोक में राजा-महाराजाओं द्वारा विशेष उत्सवों में अपने सेवकों को पूर्वसिद्ध ही वस्त्र आभूषण आदि पुरस्कार रूप में दिये जाते हैं उसी प्रकार प्राकृत शरीर की वियोगावस्था में भगवान् श्रीपुरुषोत्तम प्रभु के द्वारा पूर्वसिद्ध नित्य निर्विकार तथा भगवत्सेवा के योग्य विग्रहादि दिये जाते हैं ।

ते ब्रह्मालंकारेणालङ्कुर्वन्तीति कौशीतकीनामाम्नायात् ।

उक्त प्रसङ्ग में प्रमाण दर्शाते हैं--"भगवदनुग्रह से परमधाम में प्राप्त मुक्त जीवों को वे प्रभु के नित्य मुक्त भगवत्पार्षद भगवत्प्रदत्त दिव्यालङ्कारों से अलङ्कृत करते हैं" इस प्रकार अथर्ववेदीय कौशीतकी शाखा में अभिव्यक्त किया गया है ।

श्रीभगवद्विग्रहश्च स्वरूपवदनन्तासंख्येयकल्याणगुणाश्रयः गुणाश्च निरतिशयसौन्दर्यमार्द्दवलावण्यसौगन्ध्यसौकुमार्य्यादयः सर्वगन्धः सर्वरसः आप्रणखात् सुवर्ण इत्यादिश्रुतिभ्यः श्रीभगवतः सर्वदर्शनस्पर्शनगमनादिसर्व-शक्तिमत्त्वान्न तत्र भिन्नेन्द्रियादिविभागकल्पनानवकाशः गौरवात् "अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण" इत्यादिश्रुतेः तत्साम्यं भजतां मुक्तानामपि तथैव व्यवहारः निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति श्रुतेः किञ्च कालातीतवस्तुत्वान्न तत्र कालप्रभावः "कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतु" रिति चतुर्थांशे ब्रह्मोक्तेरिति, इत्यप्राकृतनिर्णयः ॥७॥

इति श्रीअध्यात्मतरङ्गिण्यामचेतनसंग्रहो नाम द्वितीयस्तरङ्गः ॥२॥

भगवान् श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह स्वरूप से जैसा अनन्त है उसी प्रकार अनन्त असंख्येय कल्याणमय गुणों का आश्रय भी है । वे गुण है-निरतिशय सौन्दर्य, मार्दव, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि स्वरूपगत विग्रहगत सर्वविध दिव्य गन्धों से पूर्ण, सर्वविध रसों के आधार, नख-शिख पर्यन्त सुवर्णतुल्य, आभा से परिपूर्ण इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से प्रभु के अनन्त दिव्य गुण स्वाभाविक हैं । भगवान् की सर्वदर्शन, सर्वस्पर्शन, अचिन्त्य शक्तियाँ भी स्वतः सिद्ध हैं । उनमें भिन्नेन्द्रियों की कल्पना का अवकाश ही नहीं रहता । भिन्नेन्द्रियादिकों की कल्पना में महान् गौरव भी है । श्रुति कहती है--परब्रह्म परमात्मा विना पांव ही वेग से चलते, बिना हाथ ही सबको ग्रहण करते, विना आंख ही सब कुछ देखते, विना कान ही सब सुनते हैं ।" इस प्रमाण से परमात्मा में भिन्नेन्द्रियों की स्थिति ही नहीं है । प्रभु के सान्निध्य, साम्यादि प्राप्त मुक्त जीवों का भी वैसा ही व्यवहार होता है ।

"निरञ्जन मुक्त जीव परमात्मा की साम्यता को प्राप्त करता है" इस प्रमाण से उनके भी स्वरूप गुण स्वभावादि परमात्मा के तुल्य बताये गये हैं । अप्राकृत पदार्थ कालातीत होने से उस पर काल का प्रभाव भी नहीं रहता । "कला मुहूर्तादि युक्त काल जिनकी विभूति रूप परधाम के परिणाम का हेतु नहीं बन सकता" इस प्रकार विष्णु पुराण के चतुर्थांश में ब्रह्माजी की उक्ति से सिद्ध है । अप्राकृत वस्तु अपरिणामी है । "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" उस मेरे परधाम को न सूर्य प्रकाशित करता न चन्दमा, न अग्नि की वहाँ गति है । जहाँ पहुँचने पर मेरे भक्त फिर इस संसार को प्राप्त नहीं होते । इत्यादि भगवद्गीता के कथन से भी अप्राकृत पदार्थ का निर्णय हुआ ।

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की अध्यात्मबोधिनी हिन्दी व्याख्या में द्वितीय तरङ्ग पूर्ण हुआ ॥२॥

❀ अथ तृतीयस्तरङ्गः ❀

एवं चेतनाचेतनतत्त्वं संगृह्य श्रीपुरुषोत्तमपदार्थं संगृह्णाति--

पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम तरङ्ग में भोक्तृ-चित्-चेतन-क्षेत्रज्ञादिपद वाच्य जीव का तथा द्वितीय तरङ्ग में भोग्य-अचित्-अचेतन-प्रधान क्षेत्रादि पद वाच्य जगत् तत्त्व का निरूपण (संग्रह) करके अब इस तृतीय तरङ्ग में प्रेरयिता, ईश्वर-ब्रह्म-परमात्मादि पद वाच्य श्रीपुरुषोत्तम पदार्थ का संग्रह करते हैं--

विश्वजन्मादिहेतुश्च शास्त्रयोनिःसमन्वितः ।
शास्त्रेष्वस्पृष्टदोषो वै कल्याणगुणसागरः ॥१॥

सच्चिदानन्द भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण समस्त विश्व के उत्पति, स्थिति, प्रलय एवं मोक्ष के कारण हैं, शास्त्र ही जिनके ज्ञान व प्राप्ति के साधन हैं, शास्त्रों में जो सर्वदा समन्वित है, विकार, ताप, क्लेश आदि दोषों से जो अस्पृष्ट हैं तथा ध्यातृ वर्ग के कल्याण दायक स्वभाविक ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्यादि दिव्य गुणों के सागर हैं (उनका हम ध्यान करें) यह पद्य का संक्षिप्तार्थ है ।

जन्म आदिर्येषां ते जन्मादयः जन्मस्थितिलयमोक्षाख्यास्तेषां विश्व-जन्मादीनां हेतुः उपादाननिमित्तं च कारणं "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्वे" तिश्रुतेः जन्माद्यस्य यत इति सूत्रात् ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तत--

इति श्रीमुखोक्तेः स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणमिति पूर्वाचार्य्योक्तेश्च तस्य कारणत्वं च शक्तिविक्षेपोपसंहारलक्षणपरिणामेनैव न तु स्वरूपपरिणामेन अतो न विकारप्रसक्तिशङ्कावकाशः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि यथा पृथिव्या औषधयः सम्भवति तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्व" मिति श्रुतेः ।

तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनः--
इति भारते भीष्मोक्तेः,

एतेन संघातारम्भविवर्तादिवादा निरस्ताः अश्रौतत्वात् कपोलकल्पिततर्केकमूलत्वाच्च तद्विचारश्चाऽऽकरे पूर्वाचार्य्यैर्निरूपितः तत्रैव द्रष्टव्यः ।

जन्म है आदि जिनका वे जन्मादि, अर्थात् जन्म, स्थिति, लय, मोक्ष इत्यादि उनके अभिन्न निमित्तोपादान कारण परब्रह्म परमात्मा ही हैं । इससे प्रकृति-परमाणु को जगत् का कारण बताने वालों का मत निरस्त होता है । इनमें प्रमाण दर्शाते हैं--"सृष्टि के प्रारम्भ में जिन सर्वेश्वर श्रीहरि से ये सम्पूर्ण चराचर जीव (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा ये उत्पन्न प्राणी जीवित रहते हैं, प्रलय काल में अपने गुण कर्मो सहित जिनमें प्रलीन होते हैं, जिनके अनुग्रह प्राप्त पुण्यात्मा जीव भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं वही ब्रह्म है, उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए । इस श्रुति प्रमाण से, "जिनसे इस चराचर प्रपञ्च के उत्पति स्थिति प्रलय मोक्ष होते हैं" इस भगवद् वचन से "पालन, सर्जन, प्रलय, मोक्ष के जो कारण है" इस पूर्वाचार्योक्त प्रमाण से परमात्मा जगज्जन्मादिहेतु हैं यह सिद्ध हुआ । अब प्रश्न उठता है कि कारणतत्व कैसा है ? इसका उत्तर देते हैं--शक्ति विक्षेप, उपसंहार लक्षण परिणाम द्वारा ही ब्रह्म में कारणत्व है न कि दुग्ध के दधि रूप की तरह स्वरूप परिणाम के द्वारा । अतः ब्रह्म के विकार प्रसक्ति की शंका का अवसर ही नहीं है । "जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को शक्ति विक्षेप द्वारा फैलाती, उसमें विहार करती, फिर उसे समेट लेती है, जिस प्रकार जीवित पुरुष से केश, रोम आदि होते हैं जिस प्रकार पृथ्वी से लता, वृक्ष, वनस्पति, अन्नादि, औषधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार क्षराक्षरतीत पर ब्रह्म से विना किसी विकार के सारा विश्व समुद्भूत होता है" इस श्रुति प्रमाण से तथा "जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को फैलाकर फिर अपने आप समेटता (खींच) लेता है । उसी प्रकार सर्व भूतान्तरात्मा श्रीसर्वेश्वर

चराचर प्रपञ्च का सृजन करके पुनः उसका संहार करते है" महाभारतीय भीष्म की उक्ति से भी सृष्टि, पालन, प्रलय आदि कार्य में ब्रह्म का शक्ति विक्षेप परिणाम ही सिद्ध है ।

एतावता श्रुति विरुद्ध कपोल कल्पित तर्क मूलक होने से लोकायत का संघात कारणवाद, सांख्यों का प्रकृति कारणवाद, वैशेषिकों का आरम्भ परमाणुवाद, मायावादियों का विवर्तवाद ये सब निरस्त हो जाते हैं । इसका विवेचन भाष्यादि आकार ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों ने अकाट्य शास्त्रीय तर्कों द्वारा किया है वहीं पर देखना चाहिए ।

अत्र प्रमाणमाह शास्त्रयोनिरिति शास्त्रमेव योनिः ज्ञानकारणं यस्य सः न तु प्रमाणान्तरमिति सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति अन्वयव्यतिरेकश्रुतेः, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इत्यादिस्मृतेः, शास्त्र-योनित्वादिति सूत्राच्च ।

जगज्जन्मादि हेतु परमात्मा प्रमेय है प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है अतः इस सम्बन्ध में प्रमाण बताते हैं "शास्त्रयोनिः" अर्थात् वेदादि शास्त्र ही है ज्ञानकारण जिनका वह परमात्मा । ईश्वरज्ञान के विषय में शास्त्रातिरिक्त प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण समर्थ नहीं हैं । क्योंकि "सभी वेद जिनके नाम, रूप, लीला, धाम का वर्णन करते हैं" "जो वेद को नहीं जानता वह परमात्मा की सर्वव्यापकता, महत्ता को नहीं जान सकता" इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से परतत्त्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से "समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ" इस स्मृति रूप गीत्तोक्त वचन से "परमात्मा को ज्ञान कराने में शास्त्र कारणत्व होने से" इस ब्रह्मसूत्र से शास्त्र को ही सर्वमूर्धन्य प्रमाण माना गया है ।

ननु कुतः शास्त्रैकगम्यो भगवान्न प्रमाणान्तरगोचर इति चे त्तत्राह समन्वितः शास्त्रेष्विति शास्त्रेषु तत्प्रतिपाद्यतया सम्यगन्वितः वेदस्यापि शब्दब्रह्मत्वात्तद्गतशक्तेस्तच्छत्त्यभिन्नत्वात् स्वशक्त्यैव वेद्यः अन्य प्रमाण-विषयत्वे परप्रकाशत्वापत्त्या स्वप्रकाशत्वहानिरित्यर्थः ।

भगवान् श्रीपुरुषोत्तम केवल शास्त्रों द्वारा ही जाने जाते हैं अन्य प्रमाणों से क्यों नहीं ? इस आशङ्का पर कहते हैं "समन्वितः शास्त्रेषु" इति अर्थात् परब्रह्म का प्रतिपादन होने से शास्त्रों में ब्रह्म सम्यक् प्रकार से अन्वित है, सम्बद्ध है । वेद के भी शब्द ब्रह्मत्व होने से परब्रह्म गत शक्ति का शब्द ब्रह्मगत शक्ति से अभिन्न रूप होने के कारण अपनी शक्ति के द्वारा ही वेद्यत्व होना युक्ति संगत है । अन्यथा दूसरे प्रमाणों द्वारा वेद्य हो जाय तो पर प्रकाशत्व रूप आयेगा स्वयं प्रकाशत्व में हानि हो जायेगी । "जन्माद्यस्य-यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्" इत्यादि भागवत के मङ्गलाचरण में स्वराट् (स्वयं प्रकाशमान) कहना असंगत हो जाता ।

ननु विश्वजन्मादिहेतुत्वे विश्वस्य सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात्त-त्कारणे ब्रह्मणि वैषम्यादियोगस्यावश्यम्भावादिति चेत्तत्राह अस्पृष्टदोषो वा इति वा इति निश्चये दौषैरस्पृष्टो ऽस्पृष्टदोषः दोषाश्च जन्मादिविकाराः षट् आध्यात्मिकादितापास्त्रयः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः क्लेशाश्च द्वेषादिकार्य्यभूताः, सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धाख्यं पुण्यापुण्यरूपं त्रिविधं कर्म्म सत्त्वरजस्तमोरूपाः प्रकृतेर्गुणास्त्रयः एते बद्धजीवदोषाः तैरस्पृष्टमाहात्म्य-दिक्तटइत्यर्थः य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो-ऽपिपास इत्यादिश्रुतेः ।

कर्म्मक्लेशविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः ।
सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ॥
परः पराणां सकला न यत्र ॥
क्लेशादयः सन्ति परावरेशे--

इत्यादिस्मृतेश्च एतेन निर्गुणश्रुतयो व्याख्याताः तासां हेयगुणादि-निषेधपरत्वात् ।

अब यहाँ पर जिज्ञासा होती है कि परब्रह्म को विश्वजन्मादि का कारण मानने पर विश्व के प्राणीमात्र में सुख, दुःख आदि की विचित्रता के दर्शन होने से उसके कारण रूप ब्रह्म में विषमता, निर्घृणता आदि दोषों का सम्बन्ध अवश्यम्भावी है ? इस आशंका का समाधान करते हुए विशेषण

दिया "अस्पृष्टदोषो वा इति" निश्चय ही दोषों से अस्पृष्ट होने से ब्रह्म को अस्पृष्ट दोष कहा गया है । वे दोष क्या हैं ? इनको दिखाते हैं, जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, मरण ये छः विकार, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ये त्रिविध ताप, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश, द्वेष आदि के कार्यरूप है । सञ्चित, क्रियामाण, प्रारब्ध नामक पुण्य और अपुण्य रूप तीन प्रकार के कर्म, सत्व, रज, तमः स्वरूप प्रकृति के तीन गुण ये समस्त दोष बद्ध जीव के होते हैं । उन दोषों से ब्रह्म की महिमा का सूक्ष्म कोना भी स्पृष्ट नहीं है । अतः श्रुति कहती है-- "जो परब्रह्म परमात्मा है वह निष्पाप जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, बुभुक्षा, पिपासा आदि से सर्वथा रहित है ।" स्मृति में भी कहा है--"कर्म, क्लेश, विपाक आदि का स्पर्श भी नहीं है जिनका ऐसे अखिलेश्वर परमात्मा के बीच सत्वादि प्राकृत गुण नहीं हैं, परात्पर श्रीहिर में समस्त क्लेशादि दोष नहीं है ।" इन श्रुति स्मृति प्रमाणों से ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप प्रतिपादित हुआ । निर्गुण प्रतिपादिक श्रुतियों में प्राकृत हेय गुणों का ही निषेध है ।

अथ स विशेषश्रुतितात्पर्य्यं बोधयन्नाह कल्याणगुणसागर इति कल्याणरूपाणां ध्यातृकल्याणहेतूनां स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तयावदात्मवृत्तीनां संख्यादिपरिच्छेदशून्यानां गुणानां सागरः विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रावोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि न ते विष्णो जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यादि-श्रुतिभ्यः विवक्षितगुणोपपत्तेश्चेत्यादिसूत्रात् ॥

यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक ।
तथा गुणा ह्यनन्तस्याप्यसंख्येया महात्मनः ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवांच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।
समस्तकल्याणगुणात्मको ऽसौ ॥
तेजोवलैश्वर्य्यमहावबोधः
स्ववीर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशिरित्यादिस्मृतिभ्यश्च,

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशि-
मिति श्रीआद्याचार्य्यपादोक्तेश्च ।

अब विशेष रूप से श्रुति के तात्पर्य का बोध कराते हुए कहते हैं--"कल्याणगुण सागरः इति" जो ध्याता के कल्याण हेतुक स्वभाविक अचिन्त्य, अनन्त, संख्या परिच्छेद शून्य आत्मनिष्ठ गुणों के सागर हैं ।" भगवान् विष्णु के गुण-कर्म-पराक्रम आदि का कौन वर्णन कर सकता ? भले ही जो कोई पृथ्वी रज कणों को गिनने में समर्थ हो जाए परन्तु हे प्रभो ! आपकी महिमा का पार पा सके ऐसा न तो पैदा हुआ, न वर्तमान में है नहीं भविष्यत् में हो सकेगा । भगवान् की इच्छाएँ सत्य हैं, सङ्कल्प सत्य है, ज्ञान, बल, क्रिया आदि गुण जिनके नित्य स्वाभाविक हैं, इत्यादि श्रुतियों से "सत्यकाम, सत्यसङ्कल्पादि गुण ब्रह्म के असाधारण धर्म रूप से विवक्षित हैं तथा उक्त गुणों का ब्रह्म में ही उपपत्ति होने से" इस ब्रह्म सूत्र से "हे वत्स ! जैसे समुद्र के भीतर असंख्य रत्न विद्यमान हैं उसी प्रकार अनन्त रूप परब्रह्म परमात्मा के गुण भी असंख्य है, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, इन छः गुणों का समूह प्रकृति जन्य हेय गुणादि रहित जिसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान हो उसी को भगवान् कहते हैं । उपर्युक्त समस्त कल्याण गुणों के आश्रय भगवान् श्रीसर्वेश्वर श्रीकृष्ण हैं । तेज, बल, ऐश्वर्य, सर्वविधज्ञान, पराक्रम, अनन्त शक्ति आदि गुणों के एकमात्र आधार आप हैं ।" इत्यादि स्मृति वचनों से तथा जैसे--"अग्नि, सूर्यादि में शीतत्व अन्धकारत्व आदि दोष स्वतः अपास्त हैं उसी प्रकार जन्मादि विकार, ताप, क्लेशादि दोष परब्रह्म परमात्मा से स्वतः दूर हैं, अनन्त कल्याणमय गुणों के एकराशि भगवान् श्रीकृष्ण हैं हमें उनका ध्यान करना चाहिए । इत्यादि सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य भगवन्निम्बार्क प्रभु के कथन से श्रीहरि कल्याण गुणसागर हैं यह सिद्ध हुआ ।

गुणाश्च ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यतेजोवीर्य्यसौशील्यवात्सल्यार्जवसौहार्द-सौम्यकारुण्यस्थिरत्वधैर्य्यस्वातन्त्र्यौदार्यदयामार्द्दवादयः तत्र ज्ञानं सर्वदेश-

कालवस्तुविषयकप्रत्यक्षैकरसानुभूतिः अघटघटनार्हं सामर्थ्यं शक्तिः बलं सर्वधारणसामर्थ्यम् ऐश्वर्य्यं चेतनाचेतनविश्वनियमनसामर्थ्यं वीर्य्यं श्रमहेतौ सति श्रमशून्यता तेजः परैरनभिभूयमानत्वे सति पराभिभवनसामर्थ्यम् एते गुणा भगवच्छब्दवाच्यपरब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमाश्रिताः जगत्सृष्ट्याद्युपयोगिनः, महत्त्वकारणोत्तमजात्याद्यनपेक्ष्य मन्दैरप्यमायया संश्लेषभावः सौशील्यं भृत्यदोषानुसन्धानराहित्यं वात्सल्यम् आश्रितदुःखासहिष्णुत्वं मार्द्दवं मनो-वाक्कायव्यापारसाम्यम् आर्ज्जवं स्वशक्तिमतिक्रम्यापि पररक्षणोद्यमः सौहार्दं ब्रह्मादिस्थावरान्तैः साधारणोपायत्वं सौम्यं परदोषक्षपणस्वभावः कारुण्यं युद्धादावचलत्वं स्थैर्य्यं प्रतिज्ञापालकत्वं धैर्य्यं सदा सर्वत्र स्वायत्तस्वरूप-स्थितिप्रवृत्तिकत्वे सति सर्वनियन्तृत्वं स्वातन्त्र्यम् आत्मपर्यन्तदानार्हत्वे सति सर्वपुरुषार्थदातृस्वभाव औदार्य्यं निर्हेतुकपरदुःखदुःखितत्वे सति तन्निराचि-कीर्षा दया एते च तदाश्रयणे स्वानन्याश्रितरक्षणे चोपयोगिन इति विवेकः ।

भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के प्रधानतया जो गुण शास्त्रों में वर्णित हैं उनका संक्षिप्त विश्लेषण दर्शाते हैं--ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, आर्जव, सौहार्द, सौम्य, कारुण्य, स्थिरत्व, धैर्य, स्वा-तन्त्र्य, औदार्य, दया, मार्दव इत्यादि कल्याणगुण प्राधान्य से वर्णित हैं । उनमें सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु विषय का प्रत्यक्षानुभूति को ज्ञान कहा है, अघटित घटना पठीयसी समर्थता शक्ति है, सब कुछ धारण करने का जो सामर्थ्य है वह बल है (जैसे गोवर्धन धारण) चेतन (जीव समूह) अचेतन (प्रकृति वर्ग) रूप विश्व के नियमन सामर्थ्य को ऐश्वर्य कहते हैं । परिश्रम का हेतु विद्यमान होने पर भी थकान रहित रहना वीर्य है, दूसरों से अभिभूत न होते हुए दूसरों को अभिभूत करे वह तेज है । यहाँ तक के ये छः गुण भगवत् शब्द वाच्य परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम में आश्रित रहते हुए जगत् के सृष्टि पालन संहार में उपयोगी हैं । महानता के कारण स्वरूप ब्राह्मण क्षत्रियादि उच्च वर्ण में रहते हुए उसकी उपेक्षा कर निकृष्ट योनि के प्राणियों को भी निष्कपट भाव से हृदय से लगाना सौशील्य है (निषाद, व्याध-शबरी-गृध्र आदि निदर्शन है) सेवकों के अपराध या दोषों पर ध्यान न देना वात्सल्य है,

मन, वाणी शरीर,-क्रियादि में साम्यत्व भाव आर्जव है, अपनी शक्ति का भी अतिक्रमण कर दूसरों की रक्षा में उद्यत रहना सौहार्द है । ब्रह्मा से लेकर स्थावर (कीट-पतङ्ग, वनस्पति आदि) पर्यन्त समस्त जीवों द्वारा सामीप्य प्राप्ति को सौम्य कहा गया है, दूसरों के दोषों को दूर करने का स्वभाव कारुण्य है, युद्धादि में अविचल रहना स्थैर्य है, प्रतिज्ञापालन को धैर्य कहा गया है, सदा सभी जगह अपने अधीन स्थिति प्रवृत्ति रूप होते हुए सब पर नियन्त्रण रखना स्वातन्त्र्य है । आत्मपर्यन्त दान के साथ धर्मादिसर्वविध पुरुषार्थ प्रदान करने का स्वभाव औदार्य है, अकारण दूसरों के दुःख में दुःखी रहते हुए उसको दूर करने की सतत इच्छा को दया कहा गया है । ये पूर्वोक्त समस्त गुण भगवदाश्रयण में और अनन्याश्रित जनों के रक्षण में उपयोगी हैं ।

यः सर्वज्ञः सर्ववित् एष सर्वेश्वरः सर्वस्य शरणं सुहृत् सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सत्यः सोऽस्य महिमा यस्यैष महिमा आत्मदो धनदो बलदो यो विदधाति कामान् एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यदिच्छति तस्य तदित्यादिश्रुतयो ऽत्राऽनुसन्धेयाः ।

ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्यधर्म्मस्य यशसः श्रियः ॥
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षणां भग इतीङ्गना ।
तस्मात्त्वमपि विप्रेन्द्र नारायणपरो भव ॥
तदन्यः को महोदारः प्रार्थितं दातुमीश्वर इति श्रीनारदोक्तेः,
सकलफलप्रदो हि विष्णुरितिविष्णुधर्म्मे ॥
रत्नपर्वतमारुह्य यथा रत्नं महामुने ।
सत्त्वानुरूपमाधत्ते तथा कृष्णान्मनोरथान् ॥
यथा कल्पद्रुमात्सर्वं प्राप्यते मनसीप्सितम् ॥
तथैव प्राप्यते विष्णोरपि स्याद्दुर्लभं द्विज ।
अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् ॥
नाऽसौ पदमवाप्नोति मद्भक्तै र्यदवाप्यते ।
सुहृदं सर्वभूतानां मामेकं शरणं व्रज ॥

सर्वलोकशरण्याय इत्यादिस्मृतयश्च ॥१॥

जो यह भगवान् सर्वेश्वर है वह सर्वज्ञ, सर्ववित् है तथा सब का रक्षक, सबका हितैषी, सबको वश में रखने वाला, सबका स्वामी, सत्यस्वरूप है । इनकी महिमा है कि जो स्वयं आत्म प्रदाता, धनदाता, बलदाता है एवं सबको विविध कामनाओं की पूर्ति करता है उस परब्रह्म अक्षर तत्व को जानने का जो जीव इच्छा करता है वह उसे सहज में प्राप्त होता है इत्यादि श्रुति वचनों का ब्रह्म के स्वरूप गुण वर्णन में अनुसन्धान करना चाहिए ।

समग्र, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इन छः तत्वों की "भग" यह संज्ञा है । भग जिसमें हो वह भगवान् । हे विप्रेन्द्र तुम भी नारायण परायण हो जावो । उससे अन्य कौन महान् उदार है जो चाही गयी वस्तु को देने में समर्थ हो । समस्त फल देने वाला भगवान् विष्णु ही है । इस प्रकार विष्णु धर्मोत्तर में प्रतिपादन किया है । जिस प्रकार कोई समर्थ व कुशल व्यक्ति रत्नों के पहाड पर चढकर अपने सामर्थ्य के अनुसार रत्न ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधक मुमुक्षु श्रीकृष्ण से सकल मनोरथ प्राप्त करता है । जैसे कल्पवृक्ष से मन की इच्छा के अनुसार सब कुछ प्राप्त करता है उसी प्रकार हे मुनीश्वर ! द्विजवर भगवान् विष्णु से दुर्लभ वस्तु भी प्राप्त कर लेता है । जो दश करोड़ अश्वमेघ यज्ञ करले किन्तु मेरे अनन्य भक्तों को जो पद प्राप्त होता है वह उसको नहीं प्राप्त हो सकता । समस्त जगत् के शरणागत वत्सल प्राणी मात्र के हितैषी ऐसे मेरे शरण में प्राप्त हो जावो मैं सर्वविध दुःखों से मुक्त कराऊंगा । इत्यादि स्मृति वचनों का भी अनुसन्धान करना चाहिए ॥१॥

किञ्च ॥

सत्यो ज्ञानमनन्तश्च सच्चिदानन्दविग्रहः ॥

अचिन्त्यानन्तशक्तिश्च गोपीकान्तो रमापतिः ॥२॥

और भी स्वरूप स्वभावादि दर्शाते हैं--परमात्मा सत्य स्वरूप ज्ञानमय, अनन्त गुण शक्ति सम्पन्न है । जिनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है, जिनकी शक्तियाँ अचिन्त्य और अनन्त हैं । जो प्रेमरूपा गोपीयूथ किंवा श्रीराधा के प्रियतम तथा ऐश्वर्याधिष्ठात्री लक्ष्मी के स्वामी हैं ।

लक्षणान्तरमाह सत्यो ज्ञानमनन्तश्चेति सत्यत्वादिधर्म्माणामसाधा-रणाश्रय इत्यर्थः तत्र सत्यत्वं कालत्रयावाधितविकाराद्यस्पृष्टस्वतन्त्रसत्ता-श्रयत्वं ज्ञानत्वंच चित्स्वप्रकाशत्वम् अनन्तत्वं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वं सर्वदेशकालवस्तूनामप्यात्मत्वाद्व्यापकत्वात्तदाधारत्वाच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः ।

परब्रह्म पुरुषोत्तम का दूसरा लक्षण दर्शाते हैं--"सत्योज्ञानमनन्त-श्चेति" अर्थात् सत्यत्व ज्ञानत्व अनन्तत्व रूपधर्मो का जो असाधारण (एक-मात्र) आश्रय है । उनमें सत्यत्व का अभिप्राय है--भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में अबाधित, विकारादि दोषों के स्पर्श से रहित, स्वतन्त्र सत्ता के आश्रय रूप ज्ञानत्व का आश्रय है नित्य चैतन्य और स्वयं प्रकाशस्वरूप । अनन्तत्व का तात्पर्य है देश, काल, वस्तु के परिच्छेद (सीमा) से रहित व्यापकत्व । सम्पूर्ण देश काल, वस्तुओं की भी आत्मरूप होने से, व्यापक व उन सब के आधार रूप होने से परमात्मा सत्य, ज्ञान, अनन्तरूप सिद्ध है। इसमें "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुति वचन प्रमाण है ।

अथ विग्रहं निरूपयति, सच्चिदानन्दविग्रह इति नित्यप्रकाशानन्द-लक्षणो विग्रहो यस्य सः निरतिशयसौन्दर्य्यसौकुमार्यमाधुर्यलावण्यसौगन्ध्य-सौस्पर्शाद्यनन्तासंख्येयकल्याणगुणाश्रयविग्रहक इति यावत् तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् एषोन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः आप्रणखात् सुवर्णः, आनन्दरूपममृतं यद्विभाति यदात्मको भग-वांस्तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्य्यात्मकः विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

अब भगवान् श्रीहरि के दिव्य मङ्गल विग्रह का निरूपण करते हैं। "सच्चिदानन्दविग्रह इति" अर्थात् नित्य प्रकाश आनन्द लक्षण है विग्रह जिनका, वह निरतिशय सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य, सौगन्ध्य, सौस्पर्श आदि असंख्य कल्याण गुणों का आश्रय रूप विग्रहवान् है। सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि प्रभु के आत्मिक स्वरूप गुण हैं, सौकुमार्य, लावण्य आदि विग्रह गुण हैं। इन सभी स्वरूप विग्रह गुणों के मन्दिर भगवान् श्रीहरि हैं। पूर्वाचार्यप्रवर सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज में निर्देश करते हैं "शान्ति कान्ति गुण मन्दिरं हरिं स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणम्। व्यापिनं परमसत्यमंशिनं नैमि नन्दगृहचन्दिनं प्रभुम् ॥" यहाँ शान्ति शब्द स्वसमानाधिकरणवृत्ति ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, कारुण्य, वात्सल्य, सौशील्य, दयादि स्वाभाविक स्वरूप गुणों का उपलक्षक है। उसी प्रकार कान्ति शब्द भी स्वसमानाधिकरणवृत्ति सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, लावण्य, सौगन्ध्य आदि विग्रह गुणों का उपलक्षक है। इन उभयविध गुणों के प्रभु निवास स्थान हैं।

श्रीहरि नाम रूप से व्याकृत, विविध रूप से विभक्त, भोक्तृ-संयुक्त नियत देशकाल और फलोपभोगाश्रय, तर्काऽगोचररचनायुक्त, इस जगत् की उत्पत्ति पालन प्रलय तथा मोक्ष के कारण हैं। सर्वव्यापक परब्रह्म स्वतन्त्र-सत्ता के आश्रय अर्थात् परमस्वतन्त्र परमात्मा ही इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इससे परमाणुकारणवाद और प्रकृतिकारणवाद निरस्त होते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध है कि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि देव प्राप्तैश्वर्य जीव हैं स्वतन्त्र सत्ताश्रय नहीं हैं। अतएव निखिलजीव वर्ग के अन्तर्यामी, नियन्ता, सर्वान्तरात्मा श्रीहरि ही हैं। सर्वसामर्थ्यवान् होने से निर्गुण, अव्यक्त, अचिन्त्य रूप होते हुए भी भक्तों पर अनुग्रह करके सगुण, व्यक्त, चिन्तनीय, परममनोहर नन्दनन्दन श्रीकृष्णरूप में प्रगट होते हैं। अतः उनकी सर्वतोभावेन हम वन्दना करते हैं।

"वेदादिशास्त्रों द्वारा ही लभ्यमान, सच्चिदानन्द, अद्वितीय उस परब्रह्म के ही शरण में हैं" "ये ही परमात्मा सूर्यमण्डल के अन्तर्गत देदीप्यमान हिरणमय पुरुष के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं" जिनके केश, श्मश्रु, नख,

शिखापर्यन्त सब अवयव सुवर्णमय रूप प्रतीत होते हैं । जो सर्वदा अमृतमय और आनन्द रूप से सुशोभित हैं । जिस रूप के भगवान् हैं उसी रूप का व्यक्तित्व है, भगवान् किस रूप के हैं ? ज्ञानस्वरूप, ऐश्वर्यरूप, सबओरनेत्र, सब ओर मुख है उनका । सर्वविध गन्ध और सर्वविध रस के आधार हैं । इत्यादि श्रुति प्रमाणों से भगवान् का श्रीविग्रह नित्य विभूति और लीला विभूति दोनों अवस्थाओं में नित्यचिदानन्दमय है यह सिद्ध हुआ ।

अथ सर्वशक्तिमाह अचिन्त्यानन्तशक्तिश्चेति इयत्ताद्यवच्छेदेन चिन्तनार्हा चिन्त्या नचिन्त्या अचिन्त्या अन्तः परिच्छेदस्तद्रहिता अनन्ता अचिन्त्याश्च ता अनन्ताश्च ताः शक्तयो यस्य अचिन्त्यानन्तस्वाभाविक-यावदात्मवृत्तिशक्तिमानित्यर्थः परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानेतिश्रुतेः सर्वोपेताचेतिसूत्रात् ।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ॥
शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णतेतिस्मृतेश्च,
एतेनानिर्वचनीयशक्तिवादो निरस्तः स्वाभाविकत्वादिविधानात् ।

अब परब्रह्म की समस्त शक्तियों का विवेचन करते हैं--"अचिन्त्या-नन्तशक्तिश्च" इति-इसका अभिप्राय है ये इतनी हैं इस प्रकार चिन्तन-मनन की जा सकने वाली शक्तियों को चिन्त्या कहा जाता है, जो इयत्तावच्छेदेन चिन्तनीय नहीं है उनको अचिन्त्या कहा जाता है । अन्तः परिच्छेदशून्य अनन्त अर्थात् सीमारहित ऐसी अचिन्त्य और अनन्त शक्तियाँ हैं जिनकी, अर्थात् अचिन्त्य, अनन्त स्वाभाविक स्वाधीन शक्तिमान् यह फलितार्थ हुआ । श्रुति वचन है "परब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रियादि विविध रूपा पराशक्ति शास्त्रों में प्रसिद्ध रूप से सुनी जाती है ।" ब्रह्मसूत्र का कथन है "वह सर्वोपास्यदेवता रूप शक्ति समस्त शक्तियों से युक्त है । अतः वही जगत्कारण है ।"

विष्णु पुराण में महर्षि पराशर मैत्रेय मुनि से कहते हैं--हे तपस्वियों में श्रेष्ठ ! परब्रह्म परमात्मा की रूप-गुण भेद से जो अनन्त शक्तियां हैं, वे सर्वतोभावेन अचिन्त्य तथा ज्ञानगम्य हैं । जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार की कारण रूपा हैं, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता, जल में स्निग्धता, पृथिवी में गन्धत्व इत्यादि स्वाभाविक हैं उसी प्रकार ये शक्तियां सर्वेश्वर श्रीहरि में स्वाभाविक हैं । इत्यादि स्मृति वचन रूप प्रमाणों से तथा शक्तियों के स्वाभाविकत्वादि विधान से अनिर्वचनीय शक्तिवाद निरस्त होता है ।

अथ श्र्यादिवैशिष्ट्यं विधत्ते गोपीकान्तो रमापतिरिति, गोपी श्रीवृषभानुतनया तस्याः प्रेमाधिष्ठात्र्याः कान्तः स्वामीति तथा च ऋक्परिशिष्टश्रुतावाम्नायः ॥

राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका ।

विराजत इति अन्योन्यसाहित्यप्रयोगेन तयोर्नित्यसम्बन्धः प्रेमोत्कर्षश्चोक्तो भवति प्रेमाधिष्ठात्र्या गोप्या वैशिष्ट्यमुक्त्वा ऽथैश्वर्य्याधिष्ठात्र्याः श्रियो वैशिष्ट्यं दर्शयति रमापतिरिति, रमाया लक्ष्म्याः पतिः अस्या ऐश्वर्य्याधिष्ठातृत्वं च ईश्वरीं सर्वभूतानां यशसा ज्वलन्तीं लोके देवजुष्टामुदारामित्यादिश्रुत्या प्रोक्तं भगवत्स्वरूपगुणशक्त्यादिप्रतिपादनेनैवास्या अपि गुणशक्त्यादिनिर्णयो ज्ञातव्यस्तदनुरूपत्वान्नपृथक्कथनापेक्षा तथा चाह भगवान्पराशरः ॥

देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषी ।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् ॥
राघवत्वे ऽभवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषा ऽनपायिनी,
इत्यादिना ।

अब "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यौ" इस मन्त्र में पठित श्री और लक्ष्मी शब्दों का वैशिष्ट्य बताते हैं--"गोपीकान्तो रमापतिः" प्रथमतः श्रीशब्द वाच्य गोपी अर्थात् वृषभानुनन्दिनी प्रेमाधिष्ठात्री श्रीराधा के स्वामी प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण हैं । इसी का भाव ऋक्परिशिष्ट में कहा है, "प्रेमाधिष्ठात्री

आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ सच्चिदानन्दघनमाधव तथा भगवान् माधव के साथ भगवती श्रीराधिका सुशोभित हैं" इस प्रकार परस्पर सहभाव के प्रयोग से उन युगलकिशोर श्रीराधामाधव का नित्य सम्बन्ध और प्रेमोत्कर्ष स्वतः अभिव्यक्त होता है । एतावता प्रेमाधिष्ठात्री गोपी का वैशिष्ट्य बताकर आगे ऐश्वर्याधिष्ठात्री भगवती लक्ष्मीजी का वैशिष्ट्य बताते हैं "रमापतिः" रमा अर्थात् लक्ष्मी रूपा रुक्मिणी के पति श्रीकृष्ण हैं । लक्ष्मी का ऐश्वर्याधिष्ठात्री होना श्रीसूक्त के "समस्त चराचर जगत् की नियन्त्री सर्वेश्वरी, लोक में दिव्य कीर्ति से प्रज्वलित, इन्द्रादि देवों द्वारा नित्य सेवित, परम उदार भगवती लक्ष्मी की हम वन्दना करते हैं" इस वचन से प्रमाणित होता है ।

अतएव भगवान् के स्वरूप-गुण-शक्त्यादि के प्रतिपादन से ही राधा-रुक्मिणी आदि के स्वरूप-गुण-प्रभाव आदि का निर्णय समझना चाहिए । "अनुरूप सौभगाम्" भगवती लक्ष्मी अपने प्रियतम के अनुरूप सौभाग्य से युक्त है अतः उनके गुणादि का पृथक् वर्णन अपेक्षित नहीं है । महर्षि पराशर कहते हैं--"यह रमाशक्ति भगवान् के नित्य विभूति रूप के साथ नित्य विभूति रूप में, देव रूप में देवी, लीला विभूति में मानवाकृति के साथ मानुषी रूप धारण करती है । भगवान् विष्णु के विग्रहानुकूल अपना विग्रह बनाती हैं । जैसे रामावतार में सीता हुई वैसे ही कृष्णावतार में रुक्मिणी बनकर आई । श्रीहरि के अन्यावतारों में भी अपृथक् भाव से यह विग्रह धारण करती हैं" इत्यादि प्रमाणों से श्री, लक्ष्मी आदि शक्तियाँ साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा हैं ।

किञ्च श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्याविति श्रुतौ श्रीशब्दः सत्यभामाख्यभू-शक्तिपरः ।

कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी ।
व्रजस्त्रीजनसंभूता श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गता ॥

इत्यत्र मन्त्रे च व्रजस्त्रीशब्दवाच्यायाः श्रीराधिकायाः संग्रहः उभयत्रैकैकामुपलक्ष्य तयोः प्रवृत्तिरिति गम्यते तस्मादुभयत्र गुणोपसंहारन्यायेन त्रयाणां विधानं बोध्यं रमासत्यभामाव्रजस्त्रीभिः स्वासाधारणानपायिनीभिः

पत्नीभिरुपास्यो भगवान्वासुदेवश्रीकृष्णाख्यपरब्रह्मपुरुषोत्तम इति सांप्रदायिकानां राद्धान्तः श्रौतः, तासु चैश्वर्य्याधिष्ठात्री रमा श्रियं देवीमुपह्वये इति मन्त्र-वर्णात् देवस्य श्रीमुकुन्दस्य पत्नी देवी स्मरेम देवीमित्याद्याचार्य्यपादोक्तेः देवस्य गायत्रीमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सर्वशास्त्रार्थभूतस्य पत्नी देवीति श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादोक्तेश्च स्वरूपगुणशक्त्यादिभिः श्रीमुकुन्दानुरूपत्वेऽपि तत्पारतन्त्र्यस्यात्र वैलक्षण्यं पत्नीत्वात् तथा च न तदवतारेष्वतिप्रसङ्ग इति विवेकः ।

कुछ समप्रदायाचार्यों का मत है कि "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इस मन्त्र में श्रीशब्द सत्यभामा रूप भूशक्ति परक है । "श्रीकृष्णस्वरूपा जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणाख्या मूल प्रकृति श्रीरुक्मिणी, व्रजसीमन्तिनी गोपीपदवाच्या श्रीराधिका समुद्भूत तथा श्रीकृष्णाख्य परब्रह्म से नित्य सम्बद्ध हैं" यह श्रुतियों से सिद्ध हैं । जैसे "यस्याः सांशा कमला शैलपुत्री" अर्थात् लक्ष्मी दुर्गा आदि शक्तियाँ जिन राधिका की अंश हैं, ऐसा अथर्ववेदीय राधिकोपनिषद् में राधाशक्ति को सर्वोपरि बतलाया है । उपर्युक्त मन्त्र में व्रजस्त्री शब्द से श्रीराधिका का संग्रह किया गया है । इस प्रकार दोनों मन्त्रों में एक-एक का उपलक्षण मानकर के दोनों की प्रवृत्ति है, ऐसा प्रतीत होता है । इसीलिए दोनों जगह गुणोपसंहार न्याय से तीनों का विधान समझना चाहिए । एतावता राधा, रमा, सत्यभामा आदि अपनी असाधारण एवं कभी पृथक् न रहने वाली पत्नियों से सेव्यमान जो भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण हैं वही परब्रह्म पुरुषोत्तम है । ऐसा औपनिषदों का सिद्धान्त है । उन शक्तियों में जो ऐश्वर्याधिष्ठात्री रमा देवी हैं उनका वर्णन करते हुए श्रुति प्रमाण दर्शाते हैं--"श्री देवी को मैं आवाहन करता हूँ" इस वचन से देवस्य पत्नी देवी इस व्युत्पत्ति से देव शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय होने पर देवी शब्द निष्पन्न होता है । अर्थात् देव भगवान् मुकुन्द की पत्नी यह प्रमाण सिद्ध हुआ । इसी प्रकार सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्य प्रणीत दशश्लोकी में "स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्" देवी शब्द का स्पष्ट उल्लेख है । उसकी व्याख्या में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणों ने समस्त शास्त्रों का प्रयोजन स्वरूप गायत्री मन्त्र प्रतिपाद्य देव श्रीकृष्ण की पत्नी देवी जो सकल कामनाओं को देने वाली

रमा हैं उनका स्मरण करें" ऐसा वर्णन किया है । स्वरूप-गुण-शक्ति से भगवान् श्रीकृष्ण के अनुरूप होने पर भी पत्नीत्व भाव से स्वामी की पराधीनता प्रतीत होती है यही विलक्षणता है । इसीलिए उनके अवतारों में अति प्रसङ्ग नहीं है ।

केचिदत्र जीवभावमभ्युपगच्छन्ति तत्तुच्छम् ईश्वरीं सर्वभूतानामित्यादिश्रुतिविरोधात् अन्ये मध्यमाक्षरत्वं भावयन्ति तदप्यसम्यक् प्रमाणाभावेन युक्तिकौशलमात्रत्वात् प्रेमाधिष्ठात्री व्रजस्त्री ये त्वत्र केचिदप्रामाण्यशङ्कामुद्भावयन्ति तेह्यन्धाः राधयामाधवो० व्रजस्त्रीजन० इत्याद्युक्त श्रुतेः वल्लवीवदनाम्भोजमालिने इत्यादिमन्त्रस्य च ।

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं तथा प्रियम् ।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभेति-
पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये इत्यादिस्मृतेश्च तेषां दृष्टिगोचरत्वाभावात् ।

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते ।
एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तित-
इति स्मृत्युक्तलक्षणस्य तत्र समन्वयात् ॥२॥

कुछ विचारक लोग इस विषय में प्रभु की शक्तिरूपा देवियों में जीव भाव स्वीकार करते हैं । किन्तु यह विचार अत्यन्त तुच्छ है । क्योंकि "समस्त जगत् की नियन्त्री सर्वेश्वरी है" इसश्रुति वचन से विरोध स्पष्ट है । जो कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्व समर्थ ईश्वरी है वह नियम्य रूप जीव कैसे हो सकती है । अन्य किन्हीं विवेचकों का मत है--जैसे प्रणव (ॐ) में अ उ म् ये तीन अक्षर हैं उनमें प्रथम अक्षर अ परमात्मा का वाचक, मध्यमाक्षर उ गुरु का वाचक है तथा अन्तिम म् अक्षर जीव समूह का वाचक है । मध्यस्थ गुरु शरणागत जीवों को परमात्मा से मिला देते हैं, उसी प्रकार इन शक्तिरूपा देवियों को गुरु स्वरूप मानने में कोई दोष व हानि तो है नहीं बल्कि उनमें ब्रह्मत्व कल्पना का व्यर्थश्रम नहीं करना पड़ेगा । यह कथन भी युक्ति (तर्क)

कुशलता मात्र है । इसमें शास्त्रीय प्रमाण नहीं है । "प्रेमाधिष्ठात्री व्रजस्त्री श्रीराधा हैं" इस प्रसङ्ग में जो कोई भी प्रमाण रहित होने की शंका करते हैं वे तो वास्तव में अन्धे हैं, क्योंकि "राधया माधवो देवः" "व्रजस्त्रीजनसम्भूता" इत्यादि श्रुतियों तथा "वल्लवीवदनाम्भोजमालिने" भाव कि प्रियतमा के मुखरूपी कमल की माला धारण करने वाले, इत्यादि प्रमाण से उनमें ब्रह्मत्व स्वतः सिद्ध है कल्पना का श्रम कहाँ रहा ।

जैसे परब्रह्म श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति राधा प्रियतमा हैं वैसे ही उनका कुण्ड (राधाकुण्ड) भी अति प्रिय है । "सम्पूर्ण गोपियों में वही श्रीराधा अत्यन्त प्रिया है" इस पद्मपुराणान्तर्गत स्मृति वचन की ओर उनका दृष्टिपात ही नहीं होता । "वेद और स्मृति ये दोनों विप्रों के नेत्र हैं इनमें से एक से हीन हो तो काना और दोनों से हीन हो तो अन्धा कहलाता है ।" इत्यादि स्मृति वचनों का भी उसीमें समन्वय होने से शास्त्र प्रमाणों से युक्त कथन ही मान्य होता है ॥२॥

आधारशक्तिश्च सत्यभामा तत्र द्वयोः वैशिष्ट्यमुक्त्वा ऽवशिष्टाया भूशब्दवाच्याया वैशिष्ट्यं दर्शयन्नाह-

सत्यभामाप्रियो देवो मुकुन्दः पुरुषोत्तमः ।
मुक्तगम्यो हरिः कृष्णो भगवान्मधुसूदनः ॥३॥

परमात्मा की श्री भू लीला ये तीन शक्तियाँ परम प्रसिद्ध हैं । उनमें श्री (रमा) लीला (राधा) इन दो शक्तियों का वैशिष्ट्य पूर्वोक्त प्रकार से कहकर अवशिष्ट भूशब्द वाच्य आधार शक्तिरूपा सत्यभामा का वैशिष्ट्य दिखाते हैं--"सत्यभामा के प्रिय, मोक्षदाता, परम तेजोमय, मुक्तात्माओं द्वारा प्राप्य, मधुनामक दैत्य के विनाशक अथवा मधुवत् प्रिय लगने वाले सांसारिक विषयों के निवारक षडैश्वर्य सम्पन्न, प्रपन्नजनों के पाप ताप हरने वाले सच्चिदानन्द श्रीपुरुषोत्तम ही सर्वतोभावेन उपास्य है ।"

सत्यभामायाः प्रियः सत्यभामाप्रियः सत्यभामा प्रिया यस्येति वा तथा हरिवंशे श्रीभगवदुक्तिः ।

क्षमादयश्च मेदिन्यां शब्दाद्याश्च यथा गुणाः ।
ध्रुवाः पङ्कजगर्भाभे त्वयि स्नेहस्तथा मम ॥
रुचिरग्नौ यथा दिव्या प्रभा चैव दिवाकरे ।
कान्तिश्च शाश्वती चन्द्रे स्नेहस्त्वयि तथा मम--

इति नित्यसंबन्धे दृष्टान्ताः तमेव विशिनष्टि देव इति दिव्यति द्योतते इति देवः तमेव भान्तमनुभाति सर्वमिति श्रुतेः असाधारण्यं द्योतयन्नाह मुकुन्द इति संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरितिश्रुतेः तन्निष्ठस्य मोक्षव्यपदेशादिति सूत्रात् तत्र हेतुमाह पुरुषोत्तम इति क्षराक्षराभ्यामुत्तमत्वात् प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः अक्षरात्परतः पर इत्यादिश्रुतेः अत एव मुक्तगम्य इति मुक्तैर्गम्यः प्राप्यः मुक्तोपसृप्यत्वादिति सूत्रात् अथ विशेषं निर्दिशति श्रीकृष्ण इति सदानन्दरूपः।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत इति शास्त्रात् ।

अथैश्वर्य्यं व्यञ्जयन्नाह भगवानिति स्वासाधारणसमग्रज्ञानादिषड्भगाश्रयः तच्चरितगर्भितविशेषणमाह मधुसूदन इति ॥३॥

सत्यभामा के प्रिय (षष्ठी तत्पुरुष) अथवा सत्यभामा है प्रिया जिनकी (बहुव्रीहि) इस व्युत्पति से भू शक्ति का श्रीहरि से अविनाभाव सम्बन्ध स्पष्ट है । इसी नित्य सम्बन्ध के विषय में हरिवंश पुराण के भगवदुक्त-वचनों को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं--"जिस प्रकार पृथिवी में क्षमा आदि गुण, आकाशादि में शब्दादि गुण नित्य हैं उसी प्रकार हे कमलकोष के समान शोभाशालिनी ! सत्यभामे ! तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह शाश्वत् है । अधिक क्या कहें जैसे अग्नि में दीप्ति, सूर्य में प्रभा, चन्द्र में कान्ति शाश्वती है उसी प्रकार तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम अखण्ड शाश्वत् है । उन्हीं सत्यभामाप्रिय प्रभु की विशेषता दर्शाते हुए अनेक विशेषण पद प्रयुक्त किये हैं । उनका क्रमशः विवेचन करते हैं--देव इति, द्युति अर्थ वाले दिव् धातु से कर्ता में अच् प्रत्यय करने पर देव शब्द निष्पन्न होता है । जिसका अर्थ है प्रकाशवान् । "उन्हीं ज्योतिर्धाम परब्रह्म के प्रकाश के पीछे सूर्य-अग्नि-चन्द्र आदि ज्योतिर्गण प्रकाशित होते हैं ।" इस श्रुति प्रमाण से श्रीहरि का

स्वयं प्रकाशत्व किंवा दिव्यता स्पष्ट है । प्रभु के असाधारण स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं "मुकुन्द इति" अर्थात् मुमुक्षुओं को मोक्ष प्रदान करने से मुकुन्द नाम प्रसिद्ध है । श्रुति कहती है--"संसार के बन्धन, स्थिति और मोक्ष के कारण श्रीहरि हैं" ब्रह्मसूत्र भी "परमात्मा में निष्ठा रखने वालों का मुख्य फल मोक्ष है" ऐसा प्रतिपादन करता है । इस सम्बन्ध में हेतु बताते हैं "पुरुषोत्तम" इति अर्थात् क्षर पुरुष (प्रकृतिवर्ग) अक्षर पुरुष (जीव समूह) से उत्तम होने के कारण परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा जाता है । "प्रधान और क्षेत्रज्ञ के नियन्ता स्वामी हैं" देहेन्द्रिय पदार्थों से परे अक्षर (जीव) उससे भी परे" इत्यादि श्रुति प्रमाणों से ब्रह्म क्षराक्षरातीत है यह सिद्ध हुआ ।

इसीलिए उनको मुक्त गम्य कहा गया है । "परमात्मा मुक्तात्माओं द्वारा ही गम्य है क्योंकि मुक्तोप सृप्य होने से" ऐसा ब्रह्मसूत्र निर्देश करता है । अब उनके विशेष रूप का वर्णन करते हैं--"श्रीकृष्ण इति" अर्थात् सत् चित् आनन्द स्वरूप कृष्ण शब्द सच्चिदानन्द रूप अर्थ का वाचक है क्योंकि कृष् धातु सत्ता अर्थ को बताता है, ण (न) प्रत्यय निर्वृत्ति आनन्द को बताता है । तन्मध्यपतित न्याय से चित्पदार्थ गम्यमान है । अथवा कृष् सत्तातिरिक्त चित् का भी उपलक्षण है । जो शब्द अपने अर्थ का बोध करता हुआ दूसरे सजातीय का अर्थ भी बोध करे वह उपलक्षक होता है अतः सच्चिदानन्द का ऐक्य रूप कृष्ण है, वही परमात्मा परब्रह्म कहलाता है ।

अब ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति हेतु विशेषणान्तर का प्रयोग करते हैं- "भगवान् इति ।" समग्र असाधारण ऐश्वर्य, ज्ञान, वीर्य, यश, श्री, वैराग्य इन छः गुण रूप भग के नित्याश्रय भगवान् श्रीहरि हैं । उनके चरित द्योतक विशेषण दिखाते हैं --"मधुसूदन इति ।" ब्रह्मादिदेवों के अजेय मधु कैटभ नामक दैत्यों का संहार करने वाले भगवान् मधुसूदन हैं ॥३॥

क्वचिद्ब्रह्मादीनामप्यैश्वर्य्ययोगः शास्त्रेषु दृश्यते तत्रातिप्रसङ्गशङ्कां वारयन्नाह--

ब्रह्मरुद्रमहेन्द्रादिकिरीटार्च्चितपादुकः ।
योगिध्येयपदाम्भोजो भक्तानुग्रहतत्परः ॥४॥

कहीं-कहीं ब्रह्मादिदेवों में भी ऐश्वर्यादि का योग शास्त्रों में देखा जाता है, उनमें अति प्रसङ्ग का निवारण करते हुए कहते हैं--

ब्रह्मा, रुद्र, महेन्द्रादि देवेश्वरों के शिरोमणि किरीट मुकुट से पूजित हैं चरणपादुकाएँ जिनकी, अभिवन्दन करने से किरीटादि की चमक से प्रभु की चरण चौकी और भी प्रदीप्त हो उठती है अर्थात् ब्रह्मशिवादि वन्दित हैं, योगीन्द्र, मुनीन्द्र-महात्मा जिनके चरण कमलों का सदा अपने हृदय में ध्यान करते हैं, जो अपने अनन्य शरणागत भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं, अतएव प्रभु को भक्तवत्सल कहा जाता है--इन विशेषताओं के कारण ब्रह्मादिदेवों का श्रीकृष्ण से साम्य नहीं है, यह कारिका का सामान्य अर्थ है ।

ब्रह्मेत्यादि ब्रह्मा चतुर्मुखो भौतिकसृष्ट्येकदेशकर्त्ता रुद्रस्त्रिनेत्रो भौतिकसृष्ट्येकदेशसंहर्त्ता महेन्द्रः सहस्राक्षः सुरनायकः एते आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेषां किरीटैरर्च्चिते पादुके यस्य सः यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति श्रुतेः (वैष्णवे) ।

एते वयं वृत्ररिपुस्तथायं नासत्यदस्रौ वरुणस्तथैषः ।
इमे च रुद्रा वसवः ससूर्य्याः समीरणाग्निप्रमुखास्तथाऽन्ये ॥
सुराः समस्ताः सुरनाथ कार्यमेभिर्मया यच्च तदीश सर्वम् ।
आज्ञापयाऽऽज्ञां प्रतिपालयन्तस्तवैव तिष्ठाम सदाऽस्तदोषाः ॥
तत्रैवाऽदितिः ।
ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा ।
विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः ॥
आराध्यं त्वामभीप्सन्ते कामानात्मविशुद्धये ।
तत्रैव कालियः ।
ब्रह्माद्यैरर्च्यते दिव्यैर्यश्च पुष्पानुलेपनैः ॥

नन्दनादिसमुद्भूतैः सोऽर्च्यते वा कथं मया ।
उद्योगपर्वणि सनत्सुजातः ॥
यत्तदुक्तं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।
यद्वै देवा उपासन्ते यस्मादर्को विराजते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् ।
गरीयसे ब्रह्मणो ऽप्यादिकर्त्रे--इत्यादिस्मृतेश्च

एतेन तेषां जीवत्वं स्पष्टं द्योतितं भवति अत एव मुमुक्षुभिरुपेक्ष्याः मोक्षदातृत्वाभावात् परजन्यत्वात् परतन्त्रत्वात् परोपदिष्ट-विद्यायोगात् परदत्तैश्वर्य्यभागित्वात् परनियम्यत्वाच्च एषां हेतूनां मुलभूतं शास्त्रं वेदान्तरत्नमञ्जूषादौ द्रष्टव्यम् ।

ब्रह्मेत्यादि--इस भौतिक सृष्टि के एकभाग के रचयिता चतुर्मुखी श्रीब्रह्मदेव, इसी भौतिक सृष्टि के एकभाग के संहारक त्रिलोचन श्रीरुद्रदेव, हजार नेत्र वाले देवताओं के अधिपति देवराज इन्द्र ये प्रमुख हैं जिनके उन समस्त ब्रह्मादि देववृन्द के शिरोमणि किरीटों द्वारा अर्चित-पूजित है चरण पादुकाएँ जिनकी ऐसे भगवान् सर्वेश्वर हैं । श्रुति कहती है--"जिन सर्वेश्वर को सभी देवगण नमन करते हैं" शब्द ब्रह्म और परब्रह्म के उपासक महर्षि-गण, इहामुत्रभोगलिप्साविमुख मुमुक्षुजन भी जिनकी प्रणति पूर्वक आराधना करते हैं" इत्यादि । इसी प्रकार विष्णु पुराण में प्रजापति ब्रह्मदेव श्रीहरि से कहते हैं--"हे देवाधिदेव ! सर्वेश्वर ! आप आज्ञा दें--ये वृत्रासुरका अन्त करने वाले इन्द्रदेव, अश्विनीकुमार, वरुणदेव, समस्त रुद्रगण, अष्टवसु, द्वादशादित्य, मरुद्गण, अग्निदेव प्रभृति अन्य सम्पूर्ण देवता मेरे सहति सब आपकी आज्ञा का पालन करने हेतु सदा तत्पर हैं, मात्सर्यादिदोषरहित होकर मर्यादा पूर्वक लोकहित के लिए सन्नद्ध हैं ।

वहीं पर देवमाता अदिति का कथन है--"हे प्रभो ब्रह्मादिदेवसमूह, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणी वैष्णवी माया का जो महान् आवर्त

अतएव उससे व्यामोह रूपी महाजाल के घोर अन्धकार से घिरे हुए हैं, अतः आपकी आराधना करके आत्मशुद्धि हेतु नानाविध कर्म फलों की अभिवाञ्छा करते हैं । कर्म फल भोगने से ही वासना की निवृत्ति होती है, तब मोक्ष का अधिकारी बनता है । उसी प्रकरण में कालिय नाग प्रभु से कहता है--"भगवन् ! ब्रह्मादिदेववृन्द नन्दनवन में उत्पन्न दिव्य पारिजात पुष्पों, अलौकिक अनुलेपादि से जिन आपका विधिवत् अर्चन-वन्दन करते हैं उन सर्वाधिष्ठान प्रभु का मैं साधनहीन तुच्छ नाग जाति का प्राणी कैसे अर्चन कर सकता हूँ । महाभारत के उद्योग पर्व में महर्षि सनत्सुजातजी महाराज धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए कहते हैं--

हे राजन् भगवान् विष्णु के महान् यशरुपी जो देदीप्यमान ज्योति है जिसके सम्बन्ध में पूर्व में बहुत कुछ कहा जा चुका है, जिनकी समस्त देववृन्द उपासना करते हैं, जिनसे किंचित्प्रकाश प्राप्त कर सूर्य विराजित (उद्भासित) है, उस सनातन ज्योतिर्मय भगवत्स्वरूप का योगीजन निरन्तर ध्यान द्वारा साक्षात्कार करते हैं, विराट् स्वरूप का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर पाण्डुनन्दन अर्जुन ने कहा--प्रभो ! सभी सिद्धजनों का समूह भी आपको नमन कर रहे हैं । महात्मन् ! वे क्यों नमन नहीं करें, आप तो सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि आपसे श्रेष्ठ कोई नहीं है, इत्यादि श्रुति स्मृति वचनों से ब्रह्म रुद्रेन्द्रादि ऐश्वर्य युक्त देवेश्वरों में भी जीव भाव स्पष्ट द्योतित होता है । परजन्यत्व, परतन्त्रत्व, परोपदिष्ट विद्यायोगत्व, परदत्तैश्वर्यभागित्व, परनियम्यत्व होने से उनमें मोक्ष दातृत्व नहीं हो सकता, अतः मुमुक्षुजनों को मोक्ष के लिए भगवान् मुकुन्द की ही उपासना करनी चाहिए । इन हेतुओं का मूल स्वरूप वेदान्तरत्न मञ्जूषादि ग्रन्थों में स्पष्ट है वहीं देखना चाहिए ।

एतदुक्तं भवति ब्रह्मरुद्रादीनां क्वचिदैश्वर्य्ययोगः श्रूयते इति सत्यं तथापि तेषां भगवदाराधनलब्धपरेशप्रसादलभ्यत्वात् न निरतिशयपारमैश्वर्य्याश्रयत्वं कर्म्मजन्यत्वेन देशकालपरिच्छिन्नत्वात् यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वा वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै अस्य देवमीढुषो दया विष्णोरेव प्रवृद्धे हविर्भिर्दिदेह

रुद्रो रुद्रीयमहित्वमिति बहूवृचः सोऽब्रवीद्वरं वृणीष्व अहमेव पशूनामधिपति-रसानीति तस्माद्रुद्रः पशूनामधिपतिरित्यादिश्रुतेः तत्र विदधातीति ब्रह्माधिकारेस्थापयतीत्यर्थः ।

युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः ।
पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुमः ॥
मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च--
इति ॥
विश्वरूपो महादेवो सर्वमेधे महाक्रतौ ।
जुहाव सर्वभूतानि स्वयमात्मानमात्मना ॥
महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव ।
विश्वांल्लोकान्व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासा-

इति भारते ।

ते देवा ऋषयश्चैव नाना तनुसमाश्रिताः ।
भक्त्या संपूजयन्त्येनं गतिं चैषां ददाति सः ॥
ततस्ते विवुधाः सर्वे ब्रह्मा ते च महर्षयः ।
वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमारभन् ॥
प्रापुरादित्यवर्णं तं पुरुषं तमसः परम्--
तत्रैव श्रीभगवान् ॥
येन यः कल्पितो भागः स तथा मामुपागतः ।
प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम्--
इति नारायणीये ।
ब्रह्मादयाः सुराः सर्वे विष्णुमाराध्य ते पुरा ।
स्वं स्वं पदमनुप्राप्ताः केशवस्य प्रसादत--
इति नारसिंहे, इत्यादि स्मृतेश्च ।
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दिता--
दितिश्रीभगवत्पादाद्याचार्य्योक्तेश्च अस्य विस्तरः श्रीपुरुषोत्तमा-

चार्य्यपादैरुक्तः परीक्षापूर्वकः ।

यद्यपि यह कहा जाता है कि कहीं-कहीं ब्रह्म रुद्र देवेश्वरों के लिए भी षडैश्वर्य वाचक भगवत् शब्द का प्रयोग देखा सुना गया है तो फिर श्रीहरि ही भगवान् कैसे ? आपका तर्क ठीक है, तथापि उन देवेश्वरों में ऐश्वर्यत्व भगवदाराधना से प्राप्त सर्वेश्वर के कृपा प्रसाद लभ्य होने से निरतिशय परमैश्वर्याश्रयत्व नहीं है क्योंकि कर्म जन्य देश, काल की सीमा से आबद्ध होने के कारण श्रीहरि की तरह असीम और निरङ्कुश नहीं है । क्योंकि श्रुति कहती है--"जिस परमात्मा ने सृष्टि के आदि में ब्रह्म देव को प्रकट कर उन्हें समस्त वेद राशि का उपदेश किया उन्हीं भगवान् महाविष्णु की परम कृपा से ही हवियों से प्रदीप्त अग्नि ज्वाला में आहुत रुद्रदेव को रुद्रत्व की महिमा प्राप्त हुई, अर्थात् एक बार भगवान् शिव ने पशुपतित्व प्राप्त करने के लिए महाविष्णु की तीव्र भक्ति योग से कठोर तप किया । हवियों से प्रज्वलित अग्नि कुण्ड में प्रविष्ट हुए तब श्रीहरि ने आविर्भूत होकर शिव को हृदय से लगाया और कहा देवेश्वर ! वर मांगो, शिव ने कहा मैं पुशओं का अधिपति हो जाऊँ, विष्णु ने तथाऽस्तु कह दिया, तब भगवान् रुद्र पशुपति कहलाये ।" श्रुति में "विदधाति" पद ब्रह्मा को सृष्टि के अधिकार में स्थापना करते है" इस अर्थ में प्रयुक्त है ।

इसी भाव को स्मृति प्रमाणों से प्रमाणित करते हैं--"कमलासन ब्रह्माजी ने सहस्रों युगों तक भगवान् श्रीविष्णु की आराधना करके भूर्भुवः स्वः आदि तीनों लोकों का स्वामित्व (धातृत्व) प्राप्त किया है ऐसा हम सुनते आ रहे हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं--कल्प के आदि में मेरे पुत्रत्व रूप में प्रकट होकर ब्रह्मा ने समस्त लोकों का अध्यक्षत्व प्राप्त किया है ।" "सर्वमेध नामक महायज्ञ में विश्वरूप महादेव शिव ने समस्त चराचर जगत् के साथ स्वयं अपने आपको भी हवन किया था" महान् आत्मा महादेव उस सर्वमेध महायज्ञ में अपने आपको हवन कर देवाधिदेव बन गये । महाभारत में कहा गया है--"व्याघ्रचर्म धारण करने वाले परम तेजोमय देवाधिदेव महादेव समस्त लोकों को अपने प्रभाव से व्याप्त कर अपनी विविध लीलामयी कीर्ति से सदा शोभायमान रहते हैं ।"

ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि वे सब देवगण, भृगुमरीचि आदि महर्षि अनेक प्रकार से स्वरूप धारण कर परम भक्ति भाव से भगवान् श्रीहरि की पूजा करते हैं और प्रभु उन सबको उत्तम गति प्रदान करते हैं । प्रजापति ब्रह्मा सहित उन देवताओं और महर्षियों ने वेद विधि से महान् विष्णुयाग का आरम्भ किया। तब परमात्मा के अनुग्रह से जो प्राकृत लोक से परे दिव्य अप्राकृत धाम है जिसका तेज सूर्य के समान है उस वैष्णव धाम को प्राप्त हुए । उसी प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--जिसने जिस भाव से प्रवृत्ति लक्षण धर्म का आश्रय लेकर मेरी आराधना की है उसको उसी भाव से आवृत्ति लक्षण रूप स्वर्गभोगादि फल मैं प्रसन्न होकर प्रदान करता हूँ । नृसिंह पुराण में भी "समस्त ब्रह्मादि देवों ने भगवान् श्रीनृसिंह रूप विष्णु की आराधना-प्रार्थना करके उन्हीं प्रभु की कृपा से अभीष्ट वर प्राप्त कर अपने-अपने स्थान को प्राप्त हो गये, ऐसा बताया है । सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्य--वेदान्त दशश्लोकी में बताते हैं-"ब्रह्मशिवादि देवेश्वरों द्वारा अभिवन्दित सच्चिदानन्द श्रीहरि के चरणारविन्द किंवा साक्षात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई गति जीवमात्र की नहीं दिखाई पड़ती है" इस प्रकार श्रुति स्मृति आचार्योक्ति से सिद्ध है षडैश्वर्य का निरतिशय संयोग श्रीहरि में ही है अन्य में नहीं ।

एवं ब्रह्माद्यधिकारदातृत्वं निरूप्य परमयोगिध्येयत्वमाह योगिध्येय-पदाम्बुजइति योगिभिः श्रीसनत्कुमारनारदशुकादिभिर्ध्यातुं योग्यं पदाम्बुजं यस्य सः ।

हरिवंशे--श्रीनारदः ॥

यं विदुर्वेदतत्त्वज्ञाः ब्रह्माद्याः सनकादयः ।
विचिन्वन्तः प्रदीपेन विज्ञानाख्येन केशव ॥
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते योगिनो यतचेतसः ।
सोऽपि वेदपुराणस्थस्तुभ्यं देव नमो नमः ॥

तत्रैव दुर्वासाः--

ये च विज्ञानतृप्तास्तु योगिनो वीतकल्मषाः ।
पश्यन्ति हृत्सरोजे हि तदेवेदं वपुः प्रभोः--
इति, ध्यानफलं दर्शयन्नाह भक्तानुग्रहतत्पर इति भक्तेषु यो ऽनुग्रहः स एव परो गुणो यस्य सः भक्तविषयकानुग्रहार्थं बद्धपरिकर इत्यर्थः

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वतेत्यादि श्रीमुखोक्तेः ॥४॥

इस प्रकार ब्रह्मादिदेवों को अधिकार प्रदान करने वाले श्रीहरि ही हैं इस बात का निरूपण करके अब परम योगियों के ध्येय परमात्मा भी श्रीकृष्ण ही हैं--इस विषय का प्रतिपादन करते हैं--योगिध्येय पदाम्बुज इति, योगियों के भी परम गुरु श्रीसनकादि महर्षि, देवर्षि नारद, व्यास नन्दन श्रीशुकदेव प्रभृति मुनीश्वरों द्वारा ध्यान करने योग्य है चरण कमल जिनके ऐसे श्रीकृष्ण। इसी सन्दर्भ में हरिवंश पुराण के नारदीय वचन है कि--"हे केशव ! जिन आपको ब्रह्मादिदेव, वेद संयत चित्त वाले योगिजन मोक्षस्वरूप परमानन्दमय आपको प्राप्त करके फिर इस संसार बन्धन में नहीं आते हैं ऐसे आप वेद पुराणादि शास्त्रों में वाङ्मय रूप से विद्यमान है । हे देवाधिदेव ! मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।" कितने महत्वपूर्ण एवं मनोहर है । वहीं पर महर्षि दुर्वासाजी कहते हैं हे विश्वम्भर ! जो निष्कलङ्क योगिजन स्वानुभव युक्त दिव्य ज्ञान से संतृप्त है वे अपने हृदय-कमल में आप श्रीहरि के नवाम्बुदानीक मनोहर श्रीविग्रह का अवलोकन करते रहते हैं । इस प्रकार ध्यान का स्वरूप बताकर उसका फल निरूपण करते हैं "भक्तानुग्रहकातर इति" अर्थात् भक्तों पर जो अहैतुक अनुग्रह वही परमोत्कृष्ट गुण है जिनका ऐसे भक्तों को अनुगृहीत करने के लिये सदा सन्नद्ध रहने वाले, निष्कर्ष यह हुआ कि उपासना (ध्यान) का फल अनुग्रह, भगवदनुग्रह का फल पराभक्ति, भक्ति का फल भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति समझना चाहिए ।

करुणा सागर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं--हे पार्थ ! श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्वक अनन्य भक्ति भाव से भजन करने वाले भगवज्जनों के लिए मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे सहज में मुझे प्राप्त कर सकते हैं । उन्हीं के ऊपर अहैतुकी कृपा का अभिवर्षण करने हेतु उनके अन्तःकरण में अवस्थित रहकर अत्यन्त उद्भासित ज्ञान-दीप के द्वारा जन्म जन्मान्तरीय अज्ञान जन्य अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ जिससे वे कभी दुष्कर्म के झंझावात व भँवर में नहीं पड़ते ।

अथकर्म्मफलदातृत्वं व्यञ्जयन्नाह--

यज्ञादीनां च भोक्ता हि जिज्ञास्यो मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।
स्वतन्त्रसत्त्वसम्पन्नः कृपागम्यो बृहत्तमः ॥५॥

अब कर्मफल दाता श्रीहरि ही हैं इस भाव को व्यक्त करते हैं--विविध यज्ञों के, तप ज्ञानादि साधनों के फल देने वाले, भोक्ता अर्थात् पालक-रक्षक भगवान् हैं । "भुजो अभ्यवहार पालनयोः" भुज् धातु का खाना और पालन करना अर्थ होता है । कर्म फल भोगने वाला तो जीव है, ईश्वर उन फलों का रक्षक है, अतः यहाँ भोक्ता शब्द से पालन कर्ता ही अर्थ लिया जायेगा । इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों के लिए जिज्ञास्य (जानने योग्य), स्वतन्त्र सत्ता के आश्रय, जिस पर कृपा करते है उसी के द्वारा लभ्यमान, देशकालादि परिच्छेद शून्य परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं उन्हीं के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए । यह कारिका का भाव है ।

यज्ञानां कर्मणाम् आदिना तपसां ज्ञानैश्वर्य्यादीनां भोक्ता पालकः फलदाता ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वर--

मितिभगवदुक्तेः, फलमत उपपत्तेरितिन्यायाच्च अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्युपक्रमसूत्रार्थं संगृह्णन्नाह जिज्ञास्यो मोक्षकाङ्क्षिणामिति अत्र कर्त्तरि षष्ठी कर्तृकर्म्मणोः कृतीतिशास्त्रात् मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्य इत्यर्थः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य

इति श्रुतेः ज्ञानेच्छायाम् इष्यमाणज्ञानस्यैव प्राधान्याज्ज्ञानमत्र विधेयं तच्चोक्त-लक्षणब्रह्मस्वभावगुणादिविषयकध्यानमेव न तु श्रवणजन्यज्ञानमात्रं निदिध्या-सितव्य इतिविषयवाक्ये ध्यानस्यैव विधानात् तत्साक्षात्कारासाधारणहेतु-त्वाच्च, ततस्तु तं पश्यति निष्फलं ध्यायमान इतिश्रुतेः ।

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे--
तिसूत्रकारनिर्णयाच्च ।

यज्ञानुष्ठान इष्टा-पूर्त आदि विविध कर्मों, आदि शब्द से ज्ञान वैराग्य भक्ति प्रभृति साधनों का भोक्ता अर्थात् पालक फलदाता परमात्मा ही है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं--हे अर्जुन ! समस्त लोकों का नियन्ता ईश्वर और यज्ञ तप आदि साधनों का संरक्षण दाता मुझे ही समझो । "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" यह शारीरिक मीमांसा शास्त्र-ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) का प्रथम उपक्रम सूत्र है । इसी सूत्र के अर्थ का संग्रह करते हुए कहते हैं--"जिज्ञास्यो मोक्षकाङ्क्षिणाम्" इति, यहाँ "मोक्षकांक्षिणाम्" इस शब्द में "कर्तृ कर्मणो, कृति" इस पाणिनीय सूत्र से कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हुई है । अतः मुमुक्षुओं द्वारा जिज्ञासा करने योग्य यह अर्थ हुआ । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, जिज्ञासितुं योग्य इस अर्थ में यत् प्रत्यय होने पर जिज्ञास्य यह शब्द बना । श्रुति कहती है "उस आत्मतत्व का अन्वेषण करना चाहिए, उसकी विशेष रूप में जानने की इच्छा करनी चाहिए" उपदेशक गुरु कहते हैं-हे जिज्ञासो ! उस सर्वशक्ति-मान् आत्म स्वरूप के अपरोक्ष साक्षात्कार करने के लिए सत् शास्त्रों का विधिवत् श्रवण, मनन, चिन्तन के साथ निदिध्यासन करना चाहिए । इन विधि वाक्यों का मुमुक्षु साधकों को भगवदाज्ञा समझ कर पालन करना परम आवश्यक है । क्योंकि ज्ञान की इच्छा में इष्यमाण ज्ञान की ही प्रधानता है। अतः यहाँ पर विधेय रूप ज्ञान पूर्वोक्त लक्षण संवलित ब्रह्म के स्वभाव गुण शक्ति विषयक ध्यान ही मुख्य है न कि श्रवण जन्य ज्ञान मात्र विवक्षित है । "निदिध्यासितव्य" इस विषय वाक्य में ध्यान का ही विधान है । भगवत्-साक्षात्कार का असाधारण हेतु ही ध्यान है । तभी तो "निर्विकल्प भाव से ध्यान करने वाला उस आनन्द निधि सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का साक्षात् दर्शन कर

पाता" इस श्रुति कथन और सम्पूर्ण शास्त्रों का आलोडन-विलोडन करके तथा बारम्बार विचार करके भी यही एक सुनिश्चित किया गया है कि सदा भगवान् श्रीनारायण का ही ध्यान करना चाहिए, ऐसे भगवान् व्यास के वचन से भी ध्यान की मुख्यता निर्णीत होती है । इस प्रसङ्ग में "ध्यानमङ्ग-मितियन्मतान्तरं तन्नयुक्तमत एव माधव। यद्यपि श्रवणतोऽपवर्गदोऽङ्गं तथापि सुवचं शुभं यतः ।" अर्थात् हे माधव ! कुछ आचार्य आत्मसाक्षात्कार के तीन साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ध्यान को अङ्ग और श्रवण को अङ्गी मानते हैं किन्तु उनका यह मत वेद और युक्ति विरुद्ध होने से ठीक नहीं है । क्योंकि यदि वेदान्त के श्रवण मात्र से साक्षात्कार हो जाय तो मननादि का विधान व्यर्थ हो जायेगा । प्रभो ! यद्यपि आप श्रवण से भी परम्परा द्वारा मोक्ष देते हैं तथापि श्रवण को दर्शन का साक्षात् साधन न होने से ध्यान का अङ्ग मानना ही वेद सम्मत है, यथार्थ है । पूर्वाचार्यों की उक्ति द्वारा भी उक्तार्थ की पुष्टि होती है ।

जिज्ञास्यत्वे हेतुमाह स्वतन्त्रसत्त्वसम्पन्न इति स्वतन्त्रसत्ताया असाधारणाश्रय इत्यर्थः, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् सर्वस्य वशी सर्वस्येशान एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचंन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधि-गुण इत्यादिश्रुतेः ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय--

इत्यादिश्रीमुखोक्तेश्च एतेन परतन्त्रसत्तावच्छिन्नविषयकजिज्ञासा व्यावृत्ता ।

मुमुक्षुजनों को मोक्ष के लिए परब्रह्म की ही जिज्ञासा करनी चाहिए इस सम्बन्ध में हेतु बताते हैं--स्वतन्त्र सत्त्व सम्पन्न इति" जो स्वतन्त्र सत्ता का असाधारण आश्रय है उस ब्रह्म की जिज्ञासा (उपासना) करनी चाहिए।

क्योंकि ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा महर्षि कहते हैं--हे सौम्य ! सृष्टि से पहले यह प्रपञ्चात्मक जगत् अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त रूप से ब्रह्म में स्थित था उस समय एकमात्र अद्वितीय रूप से ब्रह्म की ही सत्ता थी" इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य परम विदुषी गार्गी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- हे गार्गि ! सृष्टि के आदि में यह चराचरात्मक जगत् परब्रह्म में एकीभूत वन कर अवस्थित था । अन्य कुछ भी व्यक्त रूप में दिखाई नहीं देता । सृष्टि वेला में भी सबको अपने वश में रखने वाला सर्वेश्वर परमात्मा के प्रशासन (नियन्त्रण) में सूर्य और चन्द्र अपनी मर्यादा रूप उदयास्त में नियत रूप से अवस्थित रहते हैं । उन्हीं के भय से वायु निरन्तर गतिमान है, सूर्य उदयास्त द्वारा विश्व को कर्त्तव्य में प्रेरित करते हैं, अग्निदेव, चन्द्रदेव, मृत्यु ये सभी जिनके भय से अपने-अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहते हैं । क्योंकि वह परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है" इत्यादि श्रुतियों से और "मैं ही सूर्य रूप में तपता हूँ, मेघ रूप में जल वर्षाता हूँ, मृत्यु रूप में सबका निग्रह करता हूँ, प्रजापति के रूप में सृष्टि रचना करता हूँ, इस चराचर जगत् का पिता, माता, पोषक, पितामह आदि सब मैं ही हूँ, हे धनञ्जय ! मुझ से उत्कृष्ट अथवा परे अन्य कुछ भी नहीं है" इत्यादि स्मृति रूप भगवद् वचनों से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमात्मा है वही जिज्ञास्य, उपास्य ध्येय गेय है । इन कथनों से परतन्त्र सत्ताश्रय प्राप्तैश्वर्य ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि विषयक जिज्ञासा की निवृत्ति हुई ।

अथ सूत्रपठितब्रह्मपदं व्याचष्टे बृहत्तम इति स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयं बृहिबृंहिवृद्धावित्यस्माद्धातोरौणादिकगणपठितो मन्प्रत्यययोगः ततो ब्रह्मशब्दो व्युत्पन्नः योगवृत्त्या तस्य निरतिशयबृहत्त्वपरत्वे सिद्धे असङ्कोचेन देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये वस्तुनि पर्यवसानमित्यवगम्यते तथाभूतश्च भगवच्छब्दवाच्याभिन्नो भगवान् रमाकान्तः श्रीपुरुषोत्तमएव "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परब्रह्मणि वर्त्तते ॥

मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारण" इतिविष्णुपुराणे

श्रीपराशरोक्तेः श्रौतव्युत्पतिमत्त्वाच्चायमेवमुख्यार्थः "बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुतेः,

हरिवंशे शिवः ॥

बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च तस्माद्ब्रह्मेति शब्दित--

इति ।

वैष्णवे ध्रुवः ॥

बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम् । इति ॥

एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः ।

परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद्वृद्धतमोऽच्युत ॥

इति स्मृतेश्च ।

तदनन्तर उपक्रम सूत्र में पठित ब्रह्म पद की व्याख्या करते हैं-बृहत्तम इति । जो स्वरूप गुण शक्ति आदि से अतिशय बृहद् वस्तु है वही ब्रह्म शब्द का अभिधेय अर्थ है । वृद्धि अर्थ वाले बृहि धातु के नकार को अकारादेश होता है तथा यण् करने पर ब्रह्मन् यह शब्द निष्पन्न हुआ । उससे नपुंसक लिङ्ग में सुलोप नलोप होने से "ब्रह्म" इस पद का योगवृत्ति से निरतिशय बृहत्त्व और परत्व अर्थ सिद्ध होता है, अतः विना संकोच के देश-काल वस्तु परिच्छेद शून्य पदार्थ रूप परब्रह्म में पर्यवसित (समन्वित) होता है । तदनुरूप भगवत् शब्द के अर्थ से अभिन्न भगवान् रमाकान्त श्रीपुरुषोत्तम ही शुद्ध महाविभूति स्वरूप परब्रह्म के अर्थ में विद्यमान है । अतएव मैत्रेय के प्रति महर्षि पराशर का "हे मैत्रेय ! भगवत् शब्द सभी कारणों का भी कारण है" यह कथन संगत होता है । "बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परंब्रह्म" इस प्रकार श्रुति सम्मत व्युत्पत्ति होने से सूत्रोक्त ब्रह्म पद का यही मुख्यार्थ है ।

हरिवंश पुराण में भगवान् शिव भी कहते हैं--"देशकाल परिच्छेद रहित बृहत् होने से और चराचर प्रपञ्च को बढाने के कारण श्रीहरि को ब्रह्म इस शब्द से व्यवहृत किया जाता है ।" विष्णु-पुराण में ध्रुव ने भी "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्म संज्ञितम्" कह कर इसी भाव को व्यक्त किया है । "ये ही अव्यक्त प्रकृति, जगत्कर्ता, सनातन, सब प्राणियों से परे हैं अतः बृहत्तम अच्युत कहलाते हैं" इत्यादि स्मृति प्रमाणों से उस सर्वातिशायी ब्रह्म तत्त्व की मुमुक्षुओं को जिज्ञासा करनी चाहिए यह सूत्रार्थ निष्पन्न हुआ ।

अथ तत्प्राप्त्युपायं वक्ष्यमाणमपि निर्दिशति कृपागम्य इतिस्पष्टार्थः विशेषश्चोपरिष्टाद्वक्ष्यते "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति एवकारश्च कृपाऽसह-कृतजिज्ञासया दुर्लभत्वद्योतनार्थः ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतस--

इति श्रीभगवदुक्तेः

अकृतात्मान इति मयि न कृतआत्मा चित्तं यैस्ते मन्नियोगानर्हत्वा-त्प्रसादाविषया इत्यर्थः ॥५॥

उस ब्रह्म तत्व की प्राप्ति का उपाय बताते हैं--"कृपागम्य इति" "जिसका स्वयं प्रभु वरण करते हैं उसको ही वे प्राप्त होते हैं" जिस प्रकार स्वयंवरा कन्या हजारों पुरुषों में जिसके गले में जयमाला डालती है उसी को वह कन्यारत्न मिल जाती है । उसी प्रकार जिस साधक भक्त पर रीझ कर श्रीहरि अपनी अहैतुकी कृपाकादम्बिनी का अभिवर्षण करते हैं उसी महान् भाग्यशाली मुमुक्षु साधक को अपरोक्ष साक्षात्कार के पश्चात् तद्भावापत्ति परमानन्द की अनुभूति होती रहती है । मन्त्र में "एव" शब्द का भाव यही है कि भगवत्कृपा रहित केवल जिज्ञासा मात्र से भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है । क्योंकि श्रीहरि स्वयं आज्ञा करते हैं--बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र-महात्मा मेरे प्रति श्रद्धायुक्त होकर यम नियमादि प्रभूत साधनों द्वारा यत्न करते हुए अपने ही अन्तःकरण में स्थित उस परमतत्त्व रूप मेरा साक्षात्कार कर लेते हैं । मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ किन्तु जो मुझ में चित्त नहीं लगा पाते हैं, मेरे अनुग्रह पात्र नहीं है वे प्रभूत यत्न करने पर भी आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकते । अतः भगवत्साक्षात्कार में उनकी कृपा का ही प्राधान्य है ॥५॥

अथ सिद्धान्तमाह द्वाभ्याम्--

भिन्नाभिन्नं जगद्यस्मात्तदात्मकतयाऽखिलम् ।
तद्व्याप्यं च तदाधेयं तत्तन्त्रं श्रुतिभिर्मतम् ॥६॥
ध्यायेत्तमेव नित्यं वै मुमुक्षुः परमार्थदृक् ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो ब्रह्मभावोपलब्धये ॥७॥

अब दो पद्यों द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करते हैं--ब्रह्मात्मक होने से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् स्वरूप से भिन्न होते हुए ब्रह्म से भिन्न नहीं है । क्योंकि चित् अचित् की स्थिति प्रवृत्ति ईश्वर के ही अधीन है, जो व्याप्य, आधेय होता है वह व्यापक और आधार के अधीन होता है जैसे धूम अग्नि के बिन्दु-जल के अधीन है उसी प्रकार चिदचित्तत्त्व ब्रह्म के अधीन है, जीव जगत् व्याप्य, ब्रह्म व्यापक, जीव जगत् आधेय ब्रह्म आधार है । ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ताश्रय है जीव जगत् परतन्त्र सत्ताश्रय है । यह मत श्रुतियों द्वारा सिद्ध है ।

अतः भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति के लिए मुमुक्षु साधक को तुच्छ विषयों से मन बुद्धि इन्द्रियों को हटा कर विरक्त भाव से परमार्थ का चिन्तन करते हुए निरन्तर उन्हीं परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करना चाहिए यह कारिका का सामान्यार्थ है ॥६-७॥

एतदुक्तं भवति शास्त्रेषु तावद्विविधवाक्यानि तत्र "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ" द्वावजावीशानीशौ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना-मित्यादीनि श्रौतानि ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।
मोक्षधर्मे ब्रह्मा ॥
तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्म्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनाऽपि राशिना युज्यते हि यः ॥
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्तु यथाक्रमम् ।
इति ।

अथ तत्प्राप्त्युपायं वक्ष्यमाणमपि निर्दिशति कृपागम्य इतिस्पष्टार्थः विशेषश्चोपरिष्टाद्वक्ष्यते "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति एवकारश्च कृपाऽसह-कृतजिज्ञासया दुर्लभत्वद्योतनार्थः ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतस--

इति श्रीभगवदुक्तेः

अकृतात्मान इति मयि न कृतआत्मा चित्तं यैस्ते मन्नियोगानर्हत्वा-त्प्रसादाविषया इत्यर्थः ॥५ ॥

उस ब्रह्म तत्व की प्राप्ति का उपाय बताते हैं--"कृपागम्य इति" "जिसका स्वयं प्रभु वरण करते हैं उसको ही वे प्राप्त होते हैं" जिस प्रकार स्वयंवरा कन्या हजारों पुरुषों में जिसके गले में जयमाला डालती है उसी को वह कन्यारत्न मिल जाती है । उसी प्रकार जिस साधक भक्त पर रीझ कर श्रीहरि अपनी अहैतुकी कृपाकादम्बिनी का अभिवर्षण करते हैं उसी महान् भाग्यशाली मुमुक्षु साधक को अपरोक्ष साक्षात्कार के पश्चात् तद्‌भावापत्ति परमानन्द की अनुभूति होती रहती है । मन्त्र में "एव" शब्द का भाव यही है कि भगवत्कृपा रहित केवल जिज्ञासा मात्र से भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है । क्योंकि श्रीहरि स्वयं आज्ञा करते हैं--बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र-महात्मा मेरे प्रति श्रद्धायुक्त होकर यम नियमादि प्रभूत साधनों द्वारा यत्न करते हुए अपने ही अन्तःकरण में स्थित उस परमतत्त्व रूप मेरा साक्षात्कार कर लेते हैं । मैं उन पर अनुग्रह करता हूँ किन्तु जो मुझ में चित्त नहीं लगा पाते हैं, मेरे अनुग्रह पात्र नहीं है वे प्रभूत यत्न करने पर भी आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकते । अतः भगवत्साक्षात्कार में उनकी कृपा का ही प्राधान्य है ॥५ ॥

अथ सिद्धान्तमाह द्वाभ्याम्--

भिन्नाभिन्नं जगद्यस्मात्तदात्मकतयाऽखिलम् ।
तद्व्याप्यं च तदाधेयं तत्तन्त्रं श्रुतिभिर्मतम् ॥६ ॥
ध्यायेत्तमेव नित्यं वै मुमुक्षुः परमार्थदृक् ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो ब्रह्मभावोपलब्धये ॥७ ॥

अब दो पद्यों द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करते हैं--ब्रह्मात्मक होने से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् स्वरूप से भिन्न होते हुए ब्रह्म से भिन्न नहीं है । क्योंकि चित् अचित् की स्थिति प्रवृत्ति ईश्वर के ही अधीन है, जो व्याप्य, आधेय होता है वह व्यापक और आधार के अधीन होता है जैसे धूम अग्नि के बिन्दु-जल के अधीन है उसी प्रकार चिदचित्तत्त्व ब्रह्म के अधीन है, जीव जगत् व्याप्य, ब्रह्म व्यापक, जीव जगत् आधेय ब्रह्म आधार है । ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ताश्रय है जीव जगत् परतन्त्र सत्ताश्रय है । यह मत श्रुतियों द्वारा सिद्ध है ।

अतः भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति के लिए मुमुक्षु साधक को तुच्छ विषयों से मन बुद्धि इन्द्रियों को हटा कर विरक्त भाव से परमार्थ का चिन्तन करते हुए निरन्तर उन्हीं परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करना चाहिए यह कारिका का सामान्यार्थ है ॥६-७॥

एतदुक्तं भवति शास्त्रेषु तावद्द्विविधवाक्यानि तत्र "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ" द्वावजावीशानीशौ भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना-मित्यादीनि श्रौतानि ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।
मोक्षधर्मे ब्रह्मा ॥
तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥
स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्म्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनाऽपि राशिना युज्यते हि यः ॥
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्तु यथाक्रमम् ।
इति ।

श्रीमनुश्च ॥

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते वुधैः ॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन चेतयते सर्वं सुखं दुःखं च कर्म्मसु ॥

इत्यादिस्मार्तिकानि"

"भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः" "उभयेऽपि भेदेनैनमधीयते" "अधिकंतु-भेदनिर्देशादित्यादिसूत्राणिच" भेदपराणि वाक्यानि । सदेव सौम्येदमग्र आसी-देकमेवाद्वितीयम् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति नेह नानाऽस्ति किंचन को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत" इत्यादिश्रौतानि ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ॥
वासुदेवः सर्वमिति ।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वम्--

इत्यादिस्मार्तानि चाभेदपराणि, सर्वं तं परादाद्यो ऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेत्यादीनि निषेधपराणि अथात आदेशो नेति नेतीत्यादीनि च स्थूलादि-निषेधकानि तथा च सर्वाण्यपीतरेतरविरुद्धविषयकानि दृश्यन्ते सर्वेषामपि श्रौतवाक्यत्वात् बाधायोगात् अन्यथाऽर्द्धनास्तिकतावश्यंभाविनीति ।

विशेषार्थ में कहा जाता है कि शास्त्रों में विविध प्रकार के वचन प्राप्त होते हैं उनमें जैसे--"एक ही नित्य चेतन परमात्मा अनेक नित्य चेतन जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है" "जीव और ईश्वर जो स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं, जीव अल्पज्ञ तथा ईश्वर सर्वज्ञ है" "भोक्ता भोग्य प्रेरिता रूप से पृथक् होने पर भी ब्रह्मात्मक होने से त्रिविध ब्रह्म कहा जाता है" "जीवात्मा अपने को नियम्य ईश्वर को पृथक् नियन्ता (प्रेरिता) मानकर प्रसन्न रूप में जब उन सर्वेश्वर को देखता है तब परमानन्द की अनुभूति करता है" "दो सुन्दर पंख वाले पक्षी की तरह जीव-ईश्वर साथ-साथ मित्र भाव से विहरण करते हैं" "उन अणु स्वरूप जीवों के भी अन्तः में प्रविष्ट होकर ईश्वर

नियन्त्रण करता है" "अणो रणीयान् महतो महीयान्" इसवचन का तात्पर्य इसी में है । इत्यादि जीव ब्रह्म को भिन्न रूप में प्रतिपादित करने वाले श्रौत वाक्य है, गीता में श्रीहरि कहते हैं--हे अर्जुन ! "इससे पहले में नहीं था ऐसा नहीं है अर्थात् अवश्य था, तुम नहीं थे ऐसा नहीं है, अवश्य थे ये राजा लोग नहीं थे ऐसा भी नहीं है अवश्य थे, वर्तमान में हम सब हैं ही, इस जन्म के पश्चात् फिर भविष्य में नहीं पैदा होंगे ऐसा भी नहीं है, अवश्य पैदा होंगे" विष्णु धर्मोत्तर के मोक्ष प्रकरण में पितामह ब्रह्माजी कहते हैं--"उनमें जो परमात्मा है वही नित्य और प्रकृति जन्य गुणों से रहित कहा गया है, वही सर्वात्मा पुरुषोत्तम श्रीनारायण समझना चाहिये । वह नानाविध कर्मफलों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल जल के भीतर रहते हुए भी जलीय गुण दोषों से लिप्त नहीं रहता । किन्तु दूसरा जो जीवात्मा है वह कर्म फलों से लिप्त होने के कारण बन्धन और मोक्ष का भागी बनता है । वह जीव जिस प्रकार चतुर्विंशति तत्त्वात्मक स्थूल देह से आबद्ध रहता है, उसी प्रकार सत्रह तत्त्वात्मक कारण शरीर से भी सदा सम्बद्ध रहता है । मोक्ष दशा में ही कारण शरीर निवृत्त रहता है । इस प्रकार क्रमानुसार आत्मा की विविधता बताई गयी है । मनु महाराज भी कहते हैं--"जो इस देहेन्द्रिय मनो बुद्धि प्राणादि का अधिष्ठाता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं" किन्तु जो यन्त्रवत् विविध कर्मों का सम्पादन करता है उसे विद्वज्जन भूतात्मा (शरीर) कहते हैं । जीव संज्ञा को धारण करने वाला जो अन्तरात्मा है वह समस्त देहान्तवर्ती प्राणादियों के साथ उत्पन्न होने पर भी उनसे भिन्न रहता है, उस सर्व नियन्ता सर्वेश्वर परमात्मा की प्रेरणा से वह जीव समस्त कर्मों के फलस्वरूप सुख दुःख आदि को भोगता है, इत्यादि स्मृति सम्बन्धी वाक्य भेद व्यपदेश के कारण भी जीव, ब्रह्म से भिन्न है" "श्रुति-स्मृति के वचन भेद रूप से इसे कहते है" इत्यादि ब्रह्म सूत्र भी जीव ब्रह्म को भेद रूप से निर्देश करते हैं ।

इसी प्रकार "हे सौम्य ! सृष्टि के आदि में यह प्रपञ्चात्मक जगत् सद् रूप नित्य होते हुए अव्यक्त रूप में ब्रह्म में अवस्थित था, उस अवस्था में न ब्रह्मा, न शिव या अन्य कोई नहीं था केवल एक ही अद्वितीय परमात्मा नारायण थे । यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत् साम्याधिक्य रहित नाम रूपात्मक

ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मात्मक था । उस ब्रह्म से उत्पन्न होने से उसी में लीन होने से तल्ल और स्थिति काल में उसी के द्वारा प्राणित होने से तदन् हुआ । अतः तज्जलानि कहा जाता है । "यहाँ परब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं था" इस प्रकार ब्रह्म में सब कुछ देखने वाले को शोक मोह कैसे हो सकता है । इत्यादि अभेद परक श्रौत वाक्य "यह सम्पूर्ण जगत् वासुदेवमय है, क्षेत्रज्ञ रूप जीव को भी मुझे जानो, मुझ से ही सर्व प्रवृत्त हुआ अतः सब मदात्मक है, मुझमें सब समाया हुआ है, इत्यादि स्मृति वाक्य भी चिदचिदीश्वर को अभेद रूप से दर्शाते है, इस प्रकार भेद अभेद निषेध परक श्रुति स्मृति सूत्रों के सभी वाक्य परस्पर में विरुद्ध विषयक दिखाई देते हैं । सब में श्रौत वाक्य होने से बलाबल का भाव नहीं हो सकता, अतः बाध्य बाधक भाव स्वीकार करना उचित नहीं है, यदि बाध्य बाधक मानेंगे तो अर्द्धनास्तिकता आ जायेगी ।

तदविरोधप्रकारेणान्वेतुकामो भगवांच्छ्रीबादरायणो भिन्नाभिन्नतत्त्वं निर्णीतवान् "अंशो नानाव्यपदेशा" दन्यथा दासकितवादित्वमधीयत एके "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलव" दित्यादितद्धटकश्रुतिमूलं घटकसूत्रं निर्ममे एवं च न कस्याऽपि विरोधः सर्वेषां स्वार्थपरत्वेनान्वयात् तथाहि परतन्त्रसत्ता-वच्छिन्नत्वाच्चेतनाचेतनरूपस्य विश्वस्य यदासीत्तदधीनमासीत् ।

जगद्वशे ऽवर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥

इत्यादिशास्त्रात्, तेनैव हेतुना स्वरूपेणैव भिन्नः, तद्विषयकानि भेदवाक्यानि ब्रह्मात्मकत्वतद्व्याप्यत्वादिवक्ष्यमाणहेतुभ्यश्चापृथक् सिद्ध-त्वादभिन्नश्चेति तद्विषयकानि चाभेदवाक्यानि भेदनिषेधविषयपरत्वेन स्वार्थवन्त्येव अस्थूलादीनि च श्रीपुरुषोत्तमपरब्रह्मस्वरूपगुणशक्त्यादि-विषयकेयत्तानिषेधेन तस्य सर्ववैलक्षण्यप्रतिपादनेनैव कृतार्थानीति सर्वमनवद्यमित्येतत् तात्पर्य्यं बुद्धौ निधायाह भिन्नाभिन्नमिति यस्मादखिलं जगद्भिन्नाभिन्नं मुमुक्षुस्तमेवनित्यं ध्यायेदिति उत्तरश्लोकगतेनाऽन्वयः यस्मादिति उक्तलक्षणबृहत्तमस्वरूपगुणकाद्ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमात् अखिलं जगदिति सर्वमपि चेतनाचेतनरूपं विश्वं भिन्नाभिन्नमिति भिन्ने सत्येवा ऽभिन्नं भिन्नाभिन्नमितिविग्रहः ।

अतः उन वाक्यों को अविरोध प्रकार से समन्वित करने की इच्छा से भगवान् श्रीवेदव्यासजी ने भिन्नाभिन्न तत्त्व का निर्णय किया "अंशोनाना-व्यपदेशात्" "उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत्" इत्यादि उभय विध श्रुति मूलक ब्रह्मसूत्रों की रचना करके, इस प्रकार सभी वाक्यों का स्वार्थ परक अन्वय होने से किसी का भी कोई विरोध नहीं हो सकता । जैसे कि चेतना चेतनात्मक विश्व का परतन्त्र सत्तावच्छिन्न होने से "जब जिसरूप में रहा उसी के अधीन रहा" यह चराचरात्मक जगत् श्रीकृष्ण के ही अधीन रहा है" इत्यादि शास्त्रों के प्रमाण से स्वरूप से ही भिन्न है, समस्त भेद वाक्य स्वरूप से ही भिन्न होने की बात कहते हैं । ब्रह्मात्मकत्व, तद्व्याप्यत्व आदि हेतुओं से अपृथक् सिद्ध होने से अभिन्न भी है, जितने भी अभेद बोधक वाक्य और भेद निषेधक वाक्य हैं वे सब तादात्म्य भाव से अभिन्न होने की बात कहते हैं । स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्न होने के कारण पृथक् रूप से सिद्ध ब्रह्म पदार्थ दूसरे पदार्थों का निषेध परक होने से सभी अभेद वाक्य स्वार्थ प्रतिपादक ही है, अस्थूलादि निषेध परक वाक्य भी श्रीपुरुषोत्तम परब्रह्म के स्वरूप गुण शक्ति आदि की इयत्तावच्छेदेन प्रतिपादन में निषेधक हैं, और ब्रह्म का सर्वविध वैलक्षण्य प्रतिपादन द्वारा ही वे कृतार्थ हैं, अतः किसी प्रकार का विरोध या दोष नहीं है । इन्हीं सब वाक्यों को बुद्धि में रखकर कारिकाकार कहते हैं "भिन्नाभिन्नमिति" "जिससे अखिल जगत् भिन्नाभिन्न है, मुमुक्षुजन उसी परब्रह्म का नित्य ध्यान करे" इस प्रकार सातवीं कारिका के ध्यायेत् इस पद से अन्वय करना चाहिए । पूर्वोक्त लक्षण सम्पन्न बृहत्तम स्वरूप, गुण परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम से चराचरात्मक सम्पूर्ण विश्व भिन्नाभिन्न पद में "भिन्ने सत्येवाऽ-भिन्नम्" भिन्न होते हुए ही अभिन्न है ऐसा समास विग्रह है ।

ननु भिन्नाभिन्नत्वयोरितरेतरात्यन्तविरुद्धत्वात् कथं सामानाधि-करण्यमित्याशङ्क्य तत्प्रकारं निरूपयितुं तत्रादौ श्रुतिमुखेन समाधत्ते श्रुतिभिर्मतमिति एकः सन् बहुधा विचचार एको देवो बहुधा सन्निविष्टः त्वमेको ऽसि बहुधा बहून्प्रविष्ट इत्यादिश्रुतिभ्यः व्याख्याताश्चैताः स्मृतिकर्तृ-भिस्तत्र भगवान्मनुराह-

एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता ।
अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति ॥
इति ।
श्रीमुखेन भगवताऽपि-
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखमिति ॥
हरिवंशे घण्टाकर्णोऽपि ।
केचिद्बहुत्वेन वदन्ति देवमेकात्मना केचिदमुं पुरातनम् ।
वेदान्तसंस्थापितसत्त्वयुक्तं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताःस्म ॥
इत्यादिभिः ।

तत्रहेतुमाह तदात्मकतयेति तद्ब्रह्म आत्मा यस्य तत्तदात्मकं तस्य भावस्तत्ता तयेति ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा पतिं विश्वस्यात्मेश्वरमित्यादिश्रुतेः ॥
अहमात्मा गुडकेश ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥
अहं भवो भवन्तश्च सर्वेनारायणात्मका--
इत्यादिस्मृतेश्च ।

आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति सूत्राच्च ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतमिति श्रीआद्याचार्य्यपादोक्तेश्च ।

यहाँ पर यह आशङ्का होती है कि भिन्नत्व और अभिन्नत्व इन दोनों पदों का परस्पर अत्यन्त विरुद्धार्थ होने से समानाधिकरण नहीं हो सकता, समानाधिकरण के विना कर्मधारय होगा ही नहीं तब "भिन्नाभिन्न" यह शब्द सिद्ध नहीं हो सकता ? इस आशंका को दूर करने के लिये अविरोध प्रकार का निरूपण करते हैं । सर्वप्रथम श्रुति वचनों के प्राधान्य से समाधान करते हैं । "श्रुतिभिर्मतम्" इति--"एक होता हुआ अनेक प्रकार से विचरण करता है" "एक ही देव अनेक रूप से प्रविष्ट हुआ, वह अकेला ही बहुतों में बहुत रूपों से प्रविष्ट हुआ" इत्यादि श्रुति वचनों की स्मृतिकारों ने व्याख्या की है । भगवान् मनु कहते है--एकत्व होते हुए जो नानात्व से भासित है और नानात्व होते हुए एकत्व रूप में विद्यमान है । ब्रह्म का स्वरूप अनिर्वच-

नीय है अचिन्त्य है उसे इदमित्थ रूप से कौन जान सकता है । गीता में भगवान् स्वयं श्रीमुख से कहते हैं--"हे पार्थ ! कुछ महात्मावृन्द ज्ञान योग के द्वारा यजन करते हुए एकत्व-अद्वैत भाव से, पृथक्त्व-द्वैतभाव से अनेक विध रूप में सर्वव्यापक मेरी उपासना करते हैं" हरिवंश में घण्टाकर्ण कहता है--सर्व देवमय उस पुरातन परब्रह्म तत्त्व को कोई बहुत्व भेद रूप से कोई एकात्म अभेद रूप से प्रतिपादन करते हैं, वेदान्तादि शास्त्रों द्वारा निरूपित सत्व वाले उन सर्वेश्वर श्रीहरि के साक्षात् दर्शन करने हेतु हम उद्यत हुए हैं" इत्यादि स्मृति प्रमाणों से भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले भिन्नत्व अभिन्नत्व का सामानाधिकरण्य सिद्ध है । यही ब्रह्म का वैलक्षण्य है जैसे एक ही ब्रह्म में अणुत्व-महत्व धर्म अविरोध रूप में समन्वित रहते हैं उसी प्रकार भिन्नत्व-अभिन्नत्व भी विना किसी विरोध से अवस्थित रह सकते हैं । उसमें हेतु बताते हैं--तदात्मकतया इति" "वह ब्रह्म है आत्मा जिसका इस अर्थ में तदात्मक शब्द बना । उससे भावार्थ में तल् प्रत्यय करने पर तदात्मकतया अर्थात् ब्रह्मात्मक होने से ऐसा तात्पर्यार्थ हुआ ।" यह परिदृश्यमान जगत् ऐतदात्म्य है, वह परमात्मा समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह एक तेजोमय नारायण स्वरूप सर्वव्यापक है, सर्वभूतान्तरात्मा विश्व का पति सर्वेश्वर है" इत्यादि श्रुति वचनों से, "हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं ही सबका आत्मस्वरूप हूँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सबको वासुदेवात्मक कहते हैं" ब्रह्माजी कहते हैं--हे देवों ! मैं, भगवान् शिव, आप सब देवगण भी नारायणात्मक है" इत्यादि स्मृतियों से आत्मभाव से सभी उस ब्रह्म के पास पहुँचते हैं, ग्रहण करते हैं, इस सूत्र से और ब्रह्मात्मक होने से यह भिन्नाभिन्न सिद्धान्त वेदवेत्ता महर्षि सनकादिक नारद-व्यास आदियों द्वारा प्रतिपादित है" इस प्रकार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् की उक्ति से भी भेदाभेद सिद्धान्त शास्त्र सम्मत सिद्ध होता है ।

तत्रैव विशेषणमुखेन हेत्वन्तरानाह तद्व्याप्यमित्यादि तेन व्याप्यं तद्व्याप्यम् ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
यो देवो ऽग्नौ अप्सु विश्वं भुवनमाविवेश ॥

ओषधिषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ।

इतिश्रुतेः ॥

मया ततभिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥

इत्यादिस्मृतेश्च ।

चकारो विशेषणान्तरसमुच्चयार्थः तदाधेयमिति तस्य परमात्मन आधेयं ब्रह्माधारकमित्यर्थः ।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो ऽर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ।

इतिश्रुतेः ।

विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

इतिस्मृतेश्च ।

किंच तत्तन्त्रमिति तस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य तन्त्रमायत्तमित्यर्थः परमेश्वरायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकमितिभावः "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सोचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेतेत्यादिश्रुतेः ।"

वशी जनस्पृहायत्ते स्वायत्तत्वप्रभुत्वयो--

रितिनिघण्टूक्तेः ।

वशीशब्दस्य स्वातन्त्र्ये शक्तिः ।

मोक्षधर्म्मे ॥

यत्किंचिद्वर्त्तते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम् ।

अन्यो ह्यन्यच्चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम् ॥

इति ।

जगतो ब्रह्मात्मीयतद्व्याप्यतदाधेयतत्तन्त्रत्वादिस्वरूपत्वात्तथात्वेन भिन्नत्वेऽपि तैरेव हेतुभिस्तदपृथक्सिद्धत्वादभिन्नत्वमपीति भिन्नाभिन्नत्वं सिद्धं यो यदात्मकः स ततो भिन्ननिर्देशार्हः सुवर्णकुण्डलादिवद्, यद्वस्तु यद्व्याप्यं तत्तेनाभिन्ननिर्देशार्हम् अग्निधूमवत्

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व--

इति सर्वगतत्वादनन्तस्य ।

सएवाहमवस्थित--

इत्यादिस्मृतेः ।

वहीं पर विशेषण रूप से दूसरा हेतु देते हैं-"तद्व्याप्यम्" यह चेतनाचेतन रूप विश्व उस ब्रह्म से व्याप्त है, अर्थात् इसका व्याप्य है "दूध में घृत की तरह जिस परमात्मा ने अग्नि में, जलादि में, औषधियों में, वन-स्पतियों में सर्वव्यापी अपने आपको समर्पित स्थापित किया, इस प्रकार वह समस्त भुवन में प्रविष्ट हुआ, उस देवाधिदेव को बारम्बार प्रणाम है । "मेरे अव्यक्त मूर्ति ने इस सम्पूर्ण जगत् को उसी प्रकार व्याप्त किया है जैसे-काष्ठ को अग्नि ने ।" भगवान् के विराट् स्वरूप को देखने के बाद अर्जुन ने कहा प्रभो ! आप अकेले ने द्यावा पृथिवी के अन्तर को, समस्त दिशाओं विदिशाओं को ढक दिया है" इत्यादि स्मृति वाक्यों से यह सिद्ध है कि ब्रह्म व्याप्य होने से जीव जगत् की स्थिति प्रवृत्ति धूमाग्निवत् ब्रह्म के अधीन है ।" यहाँ पर चकार का पाठ विशेषणान्तर का समुच्चायक है--तदाधेयम् इति" उस परमात्मा का आधेय यह विश्व है । आधार हुआ परमात्मा । जो जिसके आधार में आधारित होता है वह भी तदधीन है जैसे--जल बिन्दु जल के आधार है अतः जलाधीन हुआ, वैसे ही यह विश्व ब्रह्माधीन हुआ । "उस परमात्मा में सभी लोक आश्रित हैं, जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवों ने अपने आश्रय स्थान बनाये ।" "इस सम्पूर्ण विश्व को मैं अपने एकांश से घेर कर स्थित हूँ ।" इत्यादि श्रुति स्मृतियों के प्रमाण से तदाधेयत्व सिद्ध हुआ ।

और भी विशेषण प्रयुक्त करते हैं--तत्तन्त्रमिति, उस पुरुषोत्तम के तन्त्र अर्थात् अधीन परमात्मा के अधीन है स्वरूप, स्थिति प्रवृत्ति जिसकी ऐसा अर्थ स्पष्ट हुआ । "सबको वश में करने वाला, सबका ईश्वर, वह अचिन्त्यात्मा है सबका प्रेरक है" वशी शब्द की स्वातन्त्र्य में शक्ति रहती है ।" लोक में जो कुछ है, वह सब मेरी चेष्टा है, अर्थात् मेरे द्वारा प्रेरित है।

इस प्रकार जगत् का ब्रह्मात्मीयत्व, तद्व्याप्यत्व, तदाधेयत्व तन्त-न्त्रत्वादि स्वरूप होने से भिन्नत्व होने पर भी उन्हीं हेतुओं से अपृथक् सिद्ध होने के कारण अभिन्नत्व भी है, अतः भिन्नाभिन्नत्व सिद्ध हुआ । "जो

जिसका है वह उससे भिन्न निर्देश योग्य होता है सुवर्ण कुण्डल की तरह, जैसे-कुण्डल का सुवर्णात्मक होने से कुण्डलत्वेन सुवर्णत्वेन भिन्न निर्देश हो सकता है उसी प्रकार जगत् का ब्रह्मात्मक होने से जगतूरूपत्वेन और ब्रह्मत्वेन भिन्न निर्देश होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । जो वस्तु जिसका व्याप्य होती है वह उससे अग्नि धूम की भाँति अभिन्न निर्देश योग्य भी होती है । अर्जुन कहते हैं "हे प्रभो ! आप सबमें समा जाते हो अतः सर्व कहलाते हो" इस प्रकार अनन्त प्रभु का सर्वगतत्व होने से चिदचिद्भिन्नाभिन्नत्व निर्वाध है ।

यद्यस्याधेयं तत्ततोऽपृथङ्निर्देश्यं पृथ्वीपार्थिवादिवत् यद्यत्तन्त्रं तत्ततोऽपृथङ्निर्देश्यंप्राणेन्द्रियवत् नवै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि भवन्तीत्यादिना छान्दोग्याम्नायात् । एतेनैव तत्त्वमस्यादीन्यपि वाक्यानिव्याख्यातानि भवन्ति तथाहि तच्छब्द उक्त लक्षणब्रह्मपरः त्वंशब्द तदात्मीयभूतजीवात्मान्तरात्मभूतपरः ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वात् "नामानि सर्वाणियमाविशन्ति सर्वं नामे" त्यादिश्रुतेः एवं तयोर्मुख्ययैव वृत्त्या सामानाधिकरण्यं सत्त्वचित्वादिसामान्यगुणैर्गुणवृत्त्या ऽपि समञ्जसं बोध्यं किञ्च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादीनामपि तथैव गतिर्बोध्येति सङ्क्षेपः ॥६ ॥

जो जिसका आधेय होता है वह पृथिवी-पृथिवी जन्य पदार्थ की भाँति अपृथक् निर्देश्य होता है, जो जिसके अधीन होता है वह प्राणेन्द्रिय की भाँति उससे अपृथक् निर्देश्य होता है । क्योंकि वाणी, नेत्र, कान, मन ये सब स्वतन्त्र स्थिति प्रवृत्तिक नहीं है किन्तु प्राण के अधीन ही इनकी स्थिति प्रवृत्ति है । इसलिए विद्वान् पुरुष वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि की प्रधानता नहीं कहते किन्तु प्राण ही सभी इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं मे अधिष्ठित होकर वागादि इन्द्रियों का सञ्चालन करते हैं । इसी प्रकरण में "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों की भी व्याख्या हो जाती है । जैसे कि तत्त्वमसि इस वाक्य में जो तत् शब्द है वह उक्त लक्षण विशिष्ट ब्रह्म का वाचक है, त्वं शब्द तदात्मीय रूप जीवात्मा के अन्तरात्म स्वरूप का वाचक है, ब्रह्म का सर्वात्मत्व होने से सर्वशब्द का वाच्य होना स्वाभाविक है, "सभी नाम रूप शब्द जिस ब्रह्म

में समन्वित होकर सर्वनाम वाचक होते हैं" इति श्रुति प्रमाण से दोनों जीव ब्रह्म में मुख्य वृत्ति से सामानाधिकरण्य है और सत्त्व चित्त्व आदि सामान्य गुणों के कारण गौणी वृत्ति से भी सामानाधिकरण्य बन सकता है ऐसा समझना चाहिये । उधर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि अभेद बोधक वाक्यों की भी यही गति समझनी चाहिये ॥६॥

इत्थमौपनिषत्सिद्धान्तं निरूप्या ऽस्याऽनुबन्धचतुष्टयं निरूपयन्नादावधिकारिणं निर्दिशति मुमुक्षुरिति मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्य इतिश्रुतेः तमेव विशिनष्टि परमार्थदृगिति परमार्थरूपा हेयोपादेयपदार्थविषयिका दृष्टिर्विवेकलक्षणा यस्य सः क्षुल्लकामेभ्यो विरक्त इति क्षुल्ला अतिक्षुद्राः कामाः काम्यन्ते ग्राम्यैरिति कामा विषयाः आब्रह्मभुवनात् लोकास्तद्गतभोगाश्च शब्दादिवाह्येन्द्रियविषयाः तद्विषयकसङ्कल्पादयोऽन्तःकरणविषयाश्च तत्साधनभूतानि कर्मेन्द्रियसाध्यानि कर्माणि कर्मेन्द्रियाणि चैतेभ्यो विरक्तः किञ्च ब्रह्मभावोपलब्धये इति ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभावो मोक्षः तस्योपलब्धये ब्रह्मप्राप्तय इति एतदुक्तं भवति निष्कामो विरक्तो हेयोपादेयविवेकवान् हरिगुरुभक्तिसम्पन्नो भगवद्दिदृक्षालम्पटो ऽत्राऽधिकारी यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
इत्यादिश्रुतेः ।

पूर्वोक्तलक्षणः श्रीपुरुषोत्तम अस्य विषयः तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इति शास्त्रात् श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षः अस्य प्रयोजनं निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति तन्महिमानमेति वीतशोक इति श्रुतेः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।
मम साधर्म्यमागताः ॥
इति श्रीमुखोक्तेश्च ।

वाच्यवाचकसम्बन्धः तत्तु समन्वयादिति सूत्रात् ।
नमामि सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती ।
इत्यादिस्मृतेश्च ।
इत्यनुबन्धचतुष्टयमस्य बोध्यम् ॥७॥

॥ इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां परमात्मतत्त्वनिर्णयोनामतृतीयस्तरङ्गः ॥

इस प्रकार औपनिषद सिद्धान्त का निरूपण करके इस वेदान्त शास्त्र के अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अधिकारी का स्वरूप बताते हैं--"मुमुक्षुरिति" "जिस परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को पैदा किया और उन्हें ज्ञान स्वरूप वेद राशि का उपदेश किया, उन आत्म बुद्धि के प्रकाशक परब्रह्म की शरण में मैं मुमुक्षु भाव से प्राप्त हुआ हूँ" इस श्रुति प्रमाण से मुमुक्षु साधक जो इस संसार बन्धन से मुक्त होने की इच्छा रखने वाला है वह वेदान्त शास्त्र पढने का अधिकारी होता है । उसकी अन्य विशेषताओं का विवेचन करते हैं--"परमार्थ दृक् इति" अर्थात् हेय उपादेय पदार्थ सम्बन्धी विवेक लक्षण वाली परमार्थ रूपा दृष्टि है जिसकी वह सांसारिक तुच्छ वासनाओं से विरक्त-अनासक्त रहे क्योंकि चतुर्दश भुवन ब्रह्मलोक पर्यन्त के जितने भी भोग हैं वे सब क्षयशील होने से अतितुच्छ माने गए हैं, उनकी इच्छा रखना अज्ञ, विषयी जनो का कार्य है, श्रौत-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण रूप ज्ञानेन्द्रिय के विषय शब्द स्पर्श, रूप-रस-गन्ध, तद्विषयक संकल्पादि अन्तःकरण के विषय, वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ रूप कर्मेन्द्रिय के वचन-आदान-गमन-उत्सर्ग-आनन्द रूप विषय, इन सबसे विरक्त साधक ब्रह्मभाव मोक्ष की उपलब्धि के लिए अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के लिए नित्य श्रीहरि का ध्यान करे ।

तात्पर्य है कि निष्काम भाव से युक्त, उक्त विषयों में अनासक्त, हेय-उपादेय विवेक वाला, हरिगुण सेवा परायण, भगवद् दर्शन करने की जिसकी तीव्र लालसा हो--ऐसा मुमुक्षु साधक यहाँ पर अधिकारी बताया गया है । "जिस प्रकार इस भूलोक में नानाविध कर्मो से संचित किये गये भोग क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार स्वर्गादि लोकों में भी पुण्य से संचित किये

हुये भोग क्षीण हो जायेंगे ऐसा कर्मोचित भोगों का सम्यक् विचार कर धीर विवेकी ब्रह्मत्व को धारण करने वाला पुरुष वैराग्य को प्राप्त होवे" "जिसकी देवाधिदेव श्रीहरि में जैसी भक्ति है वैसी ही सद्गुरु आचार्य में भक्ति हो, उस महात्मा साधक के लिये वे सभी प्रयोजन फलीभूत होते हैं प्रकाशित होते हैं" इत्यादि श्रुति प्रमाण से अधिकारी का उत्तम स्वरूप निर्णीत हुआ ।

चिदचिदात्मक बिम्ब की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय मोक्ष सार्वज्ञ, सौशील्य-माधुर्यादि अनन्त कल्याण गुणों के सागर वेदैकगम्य, सच्चिदानन्द भगवान् पुरुषोत्तम इस वेदान्त शास्त्र के विषय है । इसमें "मैं उन औपनिषद् पुरुष के विषय में पूछता हूँ जिनके स्वरूप का सभी वेद प्रतिपादन करते हैं" सभी वेदों द्वारा ही मैं जाना जा सकता हूँ" इत्यादि शास्त्र प्रमाण है । श्रीभगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है । क्योंकि "पुण्य पाप रहित निरञ्जन निष्कलंक आत्मरूप ही उन परम पुरुष श्रीहरि के समीप पहुँचता है, उस दिव्य महिमा को प्राप्त कर शोक रहित होता है" "बहुत से भागवत जन ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं, मेरे साधर्म्य को प्राप्त किया है" इन श्रुति स्मृति के वचनों से सिद्ध है समस्त वैष्णवाचार्यों का भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष ही अभीष्ट है ।

"वहपरमात्मा शास्त्रों में समन्वित है" "समस्त वाणी की जहाँ शाश्वती प्रतिष्ठा है उसको मैं नमन करता हूँ" इत्यादि वाच्य वाचक सम्बन्ध ही इस वेदान्त शास्त्र का सम्बन्ध है । इस प्रकार अधिकारी विषय-प्रयोजन-सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण किया गया ॥७॥

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" हिन्दी व्याख्या में परमात्मतत्त्वनिर्णयनामक तृतीय तरङ्ग पूर्ण हुआ ॥३॥

❋ अथ चतुर्थस्तरङ्गः ❋

इत्थं पदार्थवाक्यार्थनिरूपणेन समन्वयाविरोधाध्याययोरर्थः संग्रहेण निरूपित इदानीं साधनानि निरूप्यन्ते ।

इस प्रकार चिदचिदीश्वर पदार्थ का निरूपण एवं सिद्धान्त परक श्रुतिवाक्यार्थ का निरूपण करके ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय में वर्णित समन्वय प्रकरण तथा द्वितीयाध्याय में वर्णित अविरोध प्रकरण को संक्षेप में दर्शाया गया । अब ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्याय में वर्णित साधन तत्त्व का निरूपण पूर्वाचार्योक्त पद्धति से किया जाता है ।

उपायाः श्रेयसः प्रोक्ता अधिकार्यनुसारतः ।
विविधाः श्रुतिभिस्ते वै निर्णीयन्ते स्वरूपतः ।।१।।

श्रेयसः उपायाः श्रुतिभिर्विविधाः प्रोक्ता इत्यन्वयः वैविध्ये हेतुमाह अधिकार्यनुसारत इति अधिकारिवैविध्यात् साधनवैविध्यमित्यर्थः किञ्च त एव मुमुक्षूणामुपकाराय स्वरूपतो निर्णीयन्ते संक्षेपेण ।।१।।

निःश्रेयस-भगवत्प्राप्ति के जो उपाय श्रुतियों में बताये हैं वे अधिकारियों के भेद से अनेक प्रकार के हैं, क्योंकि अधिकारियों की विविधता से साधनों की विविधता हो जाती है । वे ही विविध साधन मुमुक्षु साधकों के हित के लिए स्वरूपतः निर्णीत किये जाते हैं ।।१।।

तान्येव निर्द्देशमुखेन सामान्यतो दर्शयति अर्द्धेन ।

कर्म्मज्ञानं च भक्तिश्च प्रपत्तिश्च हरेर्गुरोः

प्रपत्तिशब्द उभाभ्यां षष्ठ्यन्तपदाभ्यामन्वेतव्यः हरेः प्रपत्तिः गुरोः प्रपत्तिश्चेति यावत् अन्यत् स्पष्टम्

अथ तेषां विशेषमाह ।

उन्हीं साधनों को सामान्यतः नाम निर्देश पूर्वक दिखाते हैं--कर्म, ज्ञान, भक्ति, हरि प्रपत्ति, गुरु प्रपत्ति । प्रपत्ति शब्द का दोनों षष्ठ्यन्त हरि गुरु शब्दों के साथ सम्बन्ध किया जाता है । प्रपत्ति शब्द शरणागति का

पर्याय है । अतः हरि शरणागति और गुरु शरणागति यह स्पष्टार्थ हुआ । इस प्रकार मुमुक्षु वैष्णव जन को भगवत्प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान, भक्ति, शरणागति, गुर्वाज्ञानुवृत्ति रूप साधनों का आश्रय लेना चाहिए । अब उन्हीं साधनों को विश्लेषपूर्वक दिखाते हैं ।

तत्र कर्म्म त्रिधा बोध्यं नित्यं नैमित्तिकं तथा ॥२॥
काम्यं च भक्तियोगो ऽपि द्विधा प्रोक्तो मनीषिभिः ॥
आद्य उपायरूपश्च फलरूपस्तथा परः ॥३॥

उन साधनों में सर्वप्रथम कर्म के भेद बताते हैं कर्म तीन प्रकार का समझना चाहिए नित्य, नैमित्तिक और काम्य । इसी प्रकार भक्तियोग भी मनीषी जनों ने दो प्रकार का बताया है, प्रथम उपायरूप और अपर (दूसरा) फलरूप । यह संक्षिप्त कारिकार्थ है ।

तत्र तेषु मध्ये कर्म्म त्रिधा बोध्यमिति तदेव विभज्य निर्दिशति नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति तत्राहरहः संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना नित्यकर्त्तव्यतया विधीयमानं सन्ध्योपासनहोमजपस्नानतर्पणादिकं कर्म्म नित्यशब्दाभिधेयम्, एवं यज्ञदानाध्ययनानि त्रैविर्णिकद्विजातिसाधारणानि याजनाऽऽदानाध्यापनानि द्विजाग्र्यसाधारणानि तेषां त्रयाणाम् निष्कामतयाऽनुष्ठाने नित्यत्वं सकामत्वेनानुष्ठाने च वृत्तित्विमति विवेकः, याजनादिनापि यावद्देहयात्रामात्रमेवादानं कार्य्यम् अधिकं तु प्रतिग्रह एवेति भावः । अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्नदानादीनि सर्व साधारणानि कर्त्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठितानां तेषां बुद्धिशुद्धयादिपरम्परया ज्ञानभक्तिजनकत्वेन मोक्षहेतुत्वं कामनयाऽनुष्ठाने च वक्ष्यमाणे काम्ये कर्म्मणि संनिवेश इति विशेषः ।

उन पाँच प्रकार के साधनों में कर्म को तीन रूप में विभाजित करके प्रदर्शित करते हैं--"नित्यं, नैमित्तिकं काम्यं चेति ।" उनमें "प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये, जब तक जीवन रहे तब तक अग्नि होत्र करता रहे" इत्यादि नित्य कर्त्तव्यता से किये जाने वाले सन्ध्योपासना, होम, जप, स्नान,

तर्पण आदि कर्म नित्य शब्द से कहे जाते हैं और यज्ञ दान अध्ययन ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीनों वर्णों के द्विजातियों के सामान्य कर्म है । यज्ञ कराना, दान लेना, वेद पढाना ये द्विजाग्र्य अर्थात् ब्राह्मण के लिए विहित होने से विशेष असाधारण कहलाते हैं । उन तीनों कर्मों का निष्काम भाव से पालन करने पर वे नित्य कर्म की श्रेणी में आते हैं, सकाम भाव से पालन करने पर वृत्तित्व रूप बनते हैं । निर्वाह हो उतना ही ग्रहण करना चाहिए, अधिक संग्रह करने से प्रतिग्रह नामक दोष लगता है ।

इन्द्रियनिग्रह, तीर्थ सेवन, व्रतोपवास फलाहार, चान्द्रायणादि व्रत से देह शोषण, अन्नदान आदि पुण्य कर्म सभी वर्णों स्त्री, शूद्रों के लिए साधारण है, इनमें किसी वर्ण विशेष का नियन्त्रण नहीं हैं । इतना जरुर है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी पुण्य कर्म का अनुपालन करता है उसमें उसे कर्तृत्वादि का अभिमान नहीं रखना चाहिये । भगवदाराधना रूप समझकर करना चाहिए । इस पवित्र भावना से किये गये कोई भी पुण्य कर्म मुमुक्षु साधक के अन्तःकरण की शुद्धि करके ज्ञान भक्ति को प्रकट करते हैं जिससे वे मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनते हैं । यदि पूर्वोक्त यज्ञदानाध्ययनादि कर्म सकाम भाव से किये जाते हैं तो वे काम्य कोटि में आते हैं और बन्धन के कारण बनते हैं ।

अथ केनचित्कालादिविशेषनिमित्तेन विधीयमानं श्राद्धादिकं नैमित्तिकम्, अथ स्वर्गकामो यजेत इत्यादिना सकाममधिकृत्य विधीयमानं कर्म्म काम्यं तत्र काम्यानां निषिद्धवत्संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिर्हेयत्वमेव, नित्यं नैमित्तिकं च स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारानुसारेण श्रीभगवदाज्ञापालनरूप-भजनत्वात्तयोरावश्यकतयाऽनुष्ठेयम् ।

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्य्यात्प्रत्यवायजिहासया ।
इति स्मरणात् ।

कुछ कालादि विशेष निमित्त से किये जाने वाले कर्म जैसे--श्राद्ध, जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि कर्म नैमित्तिक कर्म कहलाते है । स्वर्ग

की कामना करने वाला यज्ञ करे, इस प्रकार विधि वाक्यों के आधार पर सकाम भाव से किये जाने वाले कर्म काम्य कहलाते हैं । मुमुक्षु साधक को निषिद्ध कर्म की तरह काम्य कर्मों का वर्जन करना चाहिए, क्योंकि काम्य कर्म संसार बन्धन के कारण बनते हैं । नित्य नैमित्तिक कर्म भी अपने-अपने वर्णों और आश्रमों के अधिकार अनुसार भगवदाज्ञा पालन रूप समझकर करना चाहिए । ऐसा करने से वे कर्म भजन रूप बनकर साधक को मोक्षोपलब्धि में साधक बनते हैं । कहा भी है--"मोक्ष चाहने वाला काम्य और निषिद्ध कर्मों में कभी भी प्रवृत्त न होवे, तथा नित्य नैमित्तिक कर्म प्रत्यवाय दोष, परिहार हेतु अवश्य करें, उनके न करने पर दोष का भागी बनता है ।

तत्र त्रैवर्णिकानां वैदिकम् एकजातीनां स्वानुरूपपौराणिकतर्पणादि अन्नदानादिकं चेतिविशेषः ।

तथैव गीयते श्रीमुखेन ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
इति ।

विपर्यये दोषस्मरणात् ।

तथा च वैष्णवे ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी ॥
परिव्राट् च चतुर्थोस्ति पञ्चमो नोपपद्यते ।
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ॥
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणमिति ।

उन नित्य नैमित्तिकादि कर्मों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीनों वर्णों को वैदिक विधि से सत्कर्मानुष्ठान करना चाहिए और एक जातीय अर्थात्

शूद्रों तथा स्त्रियों को अपने स्वरूपानुकूल पौराणिक एवं तन्त्र विधि से व्रतोपवास अन्नदानादि कार्य करना चाहिए, यही शास्त्राज्ञा है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं--"हे परन्तप ! अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिए उनके स्वभाव जन्य स्वगुणों के आधार पर कर्मों का विभाजन किया हुआ है । अतः मनुष्य अपने-अपने कर्म में अभिरत रहकर ही संसिद्धि को प्राप्त करता है । जैसे वह स्वकर्म में निरत रहकर सिद्धि को प्राप्त होता है उसका स्वरूप सुनो, समझो, जिस परब्रह्म परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की कर्म में प्रवृत्ति होती है, जिसने इस समस्त चराचरासत्मक विश्व को व्याप्त कर रखा है, उन्हीं सर्वेश्वर की आज्ञा समझकर स्वकीय अधिकार (समझकर) अनुसार कर्मानुष्ठान से उनकी अर्चना करता हुआ मनुष्य अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेता है । एक वेदज्ञ विप्र विधिवत् भगवान् की पूजाराधना, यज्ञानुष्ठान करके जो प्रयोजन सिद्ध कर पाता है, शूद्र दर्शन मात्र से वह फल प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत यदि शूद्र विप्र धर्म या विप्र कर्म के आचरण में प्रवृत्त होता है तो वह दोष का भागी बनता है, क्योंकि उसने अनधिकार चेष्टा की है । मर्यादा का उल्लंघन किया । विष्णु-पुराण में भी कहा है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इनके अतिरिक्त पांचवा आश्रम कहीं उपलब्ध नहीं है । अतः मनुष्य को वर्णानुसार और आश्रमानुसार आचरण करते हुए परब्रह्म परमात्मा की आराधना करनी चाहिए । यही प्रभु को संतुष्ट करने का सरल उपाय है, अन्य कोई भी शास्त्र विपरीत वर्णाश्रम विहीन आचरण श्रीहरि को संतुष्ट नहीं कर सकते ।

सनत्सुजातश्च ।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा--

इति ।

विष्णुधर्मेच ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं वर्णाश्रमविभागजम् ।
उल्लङ्घ्य ये प्रवर्त्तन्ते स्वेच्छया कूटयुक्तिभिः ॥
विकर्माभिरता मूढा युक्तिप्रागल्भ्यदुर्मदाः ।
पाखण्डिनस्ते दुःशीला नरकार्हा नराधमाः ॥

इति ।

किञ्च ।

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ते य उल्लङ्घ्य वर्तते
आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी मद्भक्तोपि न वैष्णवः ।

इति ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

इति श्रीमुखोक्तेः ॥

महाभारत के उद्योग पर्व में महाराज धृतराष्ट्र को ब्रह्म विद्या का उपदेश देते हुए महर्षि सनत्सुजातजी कहते हैं--"आचारहीन अर्थात् सदाचार रहित व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते है ।" विष्णुधर्म नामक ग्रन्थ में भी कहा--"श्रुति और स्मृति द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम विभाग जन्य जो धर्म है उसका उल्लङ्घन करके जो मनुष्य अपनी कूट युक्तियों के आधार पर स्वेच्छा से कर्म करते हैं वे लोग अपने तर्क शक्ति से दूसरों को गुमराह करते हुए विकर्म में प्रवृत्त होने से स्वयं मूढ है । पाखण्ड फैलाने वाले शीलहीन निरय यातना के योग्य वे सब मनुष्यों में अधम कहलाते हैं । और भी कहा है" श्रुति (वेदशास्त्र) स्मृति (स्मृतिशास्त्र) ये दोनों ही मेरी आज्ञारूप हैं । जो व्यक्ति इन दोनों का उल्लंघन करके स्वेच्छाचरण करता है वह मेरा द्वेषी (शत्रु) है, मेरी आज्ञा का उच्छेद करने वाला वह चाहे मेरी भक्ति भी करता हो किन्तु वैष्णव कहलाने योग्य नहीं है । अतएव "जो कर्म नियत होते हैं उनका त्याग चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में भी नहीं किया जाता है मोह से उनका जो त्याग करता है वह तामस त्याग कहलाता है" ऐसा स्वयं प्रभु ने कहा है-

ननु, सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति--

धर्मसामान्यत्यागस्यापि श्रीमुखेनैव गानात् कथं नित्यनैमित्तिकयो रावश्यकानुष्ठेयत्वमितिचेत् सत्यं त्यागशब्दस्य फलकर्तृत्वादित्यागपरत्वा तथा च क्रियायां स्वतन्त्रः कर्तेति स्वातन्त्र्यत्यागान्मुख्य एव त्यागसिद्धि स्वरूपत्यागस्तच्च श्रीमुखेनैव निर्णीतं तत्रैव--

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तो ऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।
इति ।

किञ्च कर्त्तव्यहातव्ययोरपि निर्णयः स्वयमेव प्रोक्तः स्वीयाभिमतत्वेन--

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।
इत्यलं विस्तरेण ।

यहाँ पर यह आशंका होती है कि--"सभी धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आओ ।" इस प्रकार प्रभु ने स्वयं धर्म सामान्य का त्यागना कहा है तो फिर नित्य नैमित्तिकों का आवश्यक रूप से सदा अनुष्ठेयत्व कहना क्या उचित होगा । इस पर सिद्धान्त पक्ष स्थापित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं आपका तर्क ठीक है, फिर भी यहाँ त्याग शब्द का अभिप्राय है फलाशा का त्याग और स्वयं का कर्तृत्वाभिमान त्याग । क्योंकि क्रिया में "स्वतन्त्रः कर्ता" इस नियम से स्वतंत्रता का अभिमान रहता है उसका त्याग ही मुख्य त्याग माना गया है न कि स्वरूप त्याग । इसी बात को वहीं पर भगवान् ने स्वयं स्पष्ट किया है--"जो साधक भगवदतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय न लेता हुआ भगवद् भक्ति से नित्य तृप्त रहता है वह कभी अन्य किसी कर्म फल की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा निरपेक्ष पुरुष अपने नित्य नैमित्तिक विविध कर्मों में प्रवृत्त रहने पर भी वह कुछ नहीं करता । क्योंकि वह फलाशा एवं कर्तृत्वाभिमान से सर्वथा रहित है । जो इस प्रकार कर्म-फल का त्याग करता है वास्तव में वही त्यागी कहलाता है । और भी कर्त्तव्य और त्याज्य का निर्णय भी स्वयं करते हैं--"हे पार्थ ! यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी कर्म हैं इनकी आसक्ति और फलाशा को त्यागकर इन्हें सदा सम्पादित करना चाहिए यह मेरा निश्चित मत है ॥२॥

अथ भक्तियोगमाह भक्तियोगोऽपि द्विधा मनीषिभिः प्रोक्त इति, श्रीभगवतोऽनन्यत्वेन तदेकपरत्वेन भजनं भक्तिः भक्तिरस्य भजनमिति श्रुतेः ।

भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देनभूयसी ॥
इतिस्मृतेश्च ।
अथ तस्य विशेषदर्शनाय द्वैविध्यमेवाह ।
आद्य उपायरूपश्च फलरूपस्तथापरः ।

तयोर्द्विविधयोर्मध्ये उपायरूपः साधनरूप आद्यः प्रथमः अपरो द्विविधः साधारणसाधारणभेदात् तत्र साधारणाधिकारिकत्वात् साधारणः ।

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ।
इति पाद्मोक्तेः ।

इस प्रकार कर्म योग का निरूपण कर क्रम प्राप्त ज्ञान योग को छोड़कर भक्ति योग का विवेचन करते हैं । भक्ति योग का भगवदाराधना रूप कर्म या भगवद् कैङ्कर्यरूप कर्म होने से ज्ञान योग से पूर्व और सामान्य कर्मयोग के अनन्तर विवेचन करना युक्ति संगत ही है । भक्ति योग को भी मनीषियों ने दो प्रकार का बताया है । भगवान् का अनन्य भाव से तदेकत्व भाव से भजन करना भक्ति है । क्योंकि "प्रभु का भजन ही भक्ति है" ऐसा श्रुति का कथन है । स्मृतिकार भी कहते हैं "भज" यह धातु सेवा के अर्थ में पठित है । इसलिए विद्वान् पुरुष भक्ति शब्द से सेवा अर्थात् परमात्मा की अनन्य भाव से सेवा करना ही कहते हैं ।

अब उसी भक्ति योग की विशेषता प्रतिपादित करने के लिए दो भेद बताते हैं--पहला उपाय रूप और दूसरा फल रूप भक्ति योग । उन दोनों में से प्रथम जो उपाय रूप भेद है वही श्रवण कीर्तनादि साधन जन्य भक्ति कहलाती है । उसके साधारण और असाधारण अधिकारी के भेद से दो प्रकार बताए गए हैं । भगवान् की भक्ति करने में साधारणतः सभी वर्ग एवं वर्ण के जन अधिकारी माने गये हैं । "उपासनीयं नितरां जनैः सदा" कहकर श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने इन्हीं अधिकारियों का निर्देश किया है ।

तथाहि भक्तपराधीनं श्रीहरिं निश्चित्य तत्स्वरूपगुणकर्मादेर्निरन्तरं परिशीलनं कथनं श्रवणं प्रबन्धनं च तत् स्वरूपगुणलीलादिविधायकशास्त्रा-

भ्यासः सर्वमङ्गलाकरसच्चिदानन्दयोगिध्येयध्यातृपुरुषार्थहेतुभूतस्य श्रीमाधवविग्रहस्य तद्वृत्तिनिरतिशयाद्भुतलावण्यमाधुर्य्यसौन्दर्यादीनां ध्यानं श्रीभगवन्मन्दिरादिगमनं प्रणिपातपुरःसरं दर्शनस्तवनप्रदक्षिणादि तवास्मीतिसदैवानुसंधानं यात्रादौ गत्वा प्रेम्णा तद्गुणगाननृत्यादि तत्क्षेत्रायतनादिषु तज्जनेषु भागवतेषु च निरतिशया प्रीतिः, श्रीगुरूपदिष्टविधानेन श्रीपञ्चरात्रोक्तविधिना तदुपचारैः श्रीरमानिवासस्य सपरिकरस्य संप्रदायानुसारेण समर्च्चनं श्रीपतिभुक्तोज्झितप्रसादभोजनं यथा हरौ तथैव गुरौ भक्त्या श्रद्धार्ज्जवविश्वासादिदाढर्येन सेवनं श्रीहरिगुरुपादतीर्थसेवननियमः सर्वकर्म्मार्प्पणं चेतिसङ्क्षेपः । असाधारणो वैदिकः त्रैवर्णिकद्विजातिमात्राधिकारिकत्वात् स च सत्यविद्या शाण्डिल्यविद्यादिभेदेनाऽनेकविधः प्रतीकोपासनरूपोऽहंग्रहोपासनरूपश्चेति शारीरकमीमांसायाः तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीसूत्रकृता विस्तृतः निगदं भाषितश्च श्रीनिवासाचार्यपादैः ।

अब उन्हीं साधारण अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले भक्ति योग का क्रम बताते हैं--श्रीहरि को "अहं भक्त पराधीन" इस कथनानुसार भक्त पराधीनत्व निश्चित करके उनके स्वरूप गुण कर्म आदि का निरन्तर परिशीलन करना, उन्हीं के लीला चरितों का श्रवण करना, सेवाराधन हेतु आवश्यक वस्त्रालङ्कार पुष्प-चन्दन-धूप-दीप-नैवेद्य आदि का प्रबन्धन करना, उसी प्रकार उनके स्वरूप गुण लीलादि के प्रतिपादक शास्त्र का स्वाध्यायाभ्यास करना, सभी प्रकार के मङ्गलमय आकृति विशेषों के असाधारण स्वरूप सच्चिदानन्द योगीन्द्र -मुनीन्द्र परमहंसों के ध्येय ध्यान करने वालों के धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय प्रदाता, अनन्त शक्ति युक्त भगवान् माधव के दिव्य विग्रह जिनके निरतिशय अद्भुत लावण्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य आदि विग्रह गत गुणों का ध्यान करना, भगवान् के मन्दिर, तीर्थ, क्षेत्र आदि में जाना, वहाँ जाकर विनयावनत हो साष्टाङ्ग, पचाङ्ग आदि विधि से प्रणाम करते हुए, भगवद्विग्रहों का दर्शन, विशिष्ट स्तोत्रों द्वारा स्तवन, प्रदक्षिणादि क्रम से प्रभु के समक्ष "हे प्रभो ! मैं आपका प्रपन्न, अकिञ्चन सेवक हूँ" ऐसा कहना, श्रीहरि के स्वरूप गुणादि का सदैव अनुसन्धान करते रहना, तीर्थ यात्रादि में जाकर प्रेम से अपने आराध्य के गुणगान करना, भावना युक्त हो

नृत्य करना, भगवान् के मन्दिरों में तीर्थ क्षेत्रों में परम भागवत सज्जनों में निष्कपट प्रीति रखना, श्रीगुरुदेव के द्वारा समुपदिष्ट विधि से पञ्चरात्रोक्त विधि से तत्तद् उपचारों द्वारा स्वसम्प्रदायानुरूप साङ्ग सपरिवार श्रीहरि का पूजन-अर्चन करना, भगवत्पादोदक (तीर्थोदक) का पान करना, श्रीहरि को समर्पित नैवेद्य प्रसाद का ही भोजन करना, जैसी भक्ति-प्रीति श्रीहरि में रखते हैं वैसी ही भक्ति-प्रीति गुरु में भी रखना, श्रद्धा, कोमलता, विश्वासादि की दृढता से सदा श्रीहरि गुरु की सेवा करना, नित्य श्रीहरि एवं गुरु के चरणोदक पान करके ही अन्न जल ग्रहण करने का नियम रखना, अपने द्वारा किये गए सभी कर्मों को "नारायणायेति समर्पयेत्तत्" इस वचन के अनुसार भगवत्समर्पण करना इत्यादि सर्व साधारण वैष्णव भक्तों की साधन भक्ति का स्वरूप है । असाधारण वैष्णव भक्तों द्वारा पालनीय असाधारण भक्ति योग का स्वरूप बताते हैं "वह वैदिक होता है" उस विधि में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णों का ही अधिकार है । वेदों-उपनिषदों में बताई गयी सत्य विद्या, शाण्डित्य विद्या आदि के भेद से असाधारण साधन भक्ति योग अनेक प्रकार का है । जिसमें प्रतीकोपासना और अहं ग्रहोपासना रूप है । शारीरक मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में भग-वान् श्रीवेदव्यास ने विस्तृत रूप से बताया है । भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी ने विशद् रूप में उसका विवेचन किया है ।

अथ फलरूपो नाम पूर्वोक्तकर्म्मयोगानुष्ठानप्रीणितश्रीपुरुषोत्तम-प्रसादलब्धसत्संप्रदायनिष्ठाचार्योपदिष्टसच्छास्त्रश्रवणजन्यपूर्वोक्तवक्ष्यमाणज्ञानो-त्तरभाविश्रीवासुदेवानन्ताचिन्त्यस्वरूपगुणशक्तिविषयकानवच्छिन्ननिदिध्यास-नाख्यः निरतिशयतत्प्रसादहेतुकसाक्षात्कारासाधारणकारणं च "निदिध्या-सितव्य" इति श्रुतेः स एव ध्रुवास्मृतिशब्दवाच्यत्वेन श्रीभगवता सनत्कुमारे-णोक्तः ।

सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।

"स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष" इत्यादिश्रुत्या ॥

गीयते श्रीमुखेन-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
इति ।

तस्यैव साक्षात्कारहेतुत्वं च "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति श्रुतेः ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधो ऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥
इति भगवदुक्तेश्च ।
स एव परेति प्रेमलक्षणेति क्वचिदुच्यते ॥
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणे--
त्यादिश्रीआद्याचार्य्यपादोक्तेः ॥

अब फलरूप भक्ति का स्वरूप बताते हैं--पूर्व में बताए गये कर्मयोगानुष्ठान, पुरश्चरण आदि क्रियाओं से प्रसन्न श्रीसर्वेश्वर पुरुषोत्तम के अनुग्रह से प्राप्त सत्सम्प्रदाय निष्ठ आचार्य द्वारा उपदिष्ट, सत् शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न, पूर्वोक्त प्रकार एवं आगे बताये जाने वाले ज्ञान योग के पश्चात् अनन्त अचिन्त्य स्वरूप गुण शक्ति सम्पन्न भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के अनवच्छिन्न निदिध्यासन रूप भक्ति योग को फलरूप भक्ति योग कहते हैं । क्योंकि प्रभु के निरतिशय कृपा प्रसाद के कारण होने वाला जो साक्षात्कार है उसका भी असाधारण कारण निदिध्यासन कहा गया है । श्रवण मनन निदिध्यासन ही प्रधान माना गया है ।

"निदिध्यासन करना चाहिए" ऐसा श्रुति में कहा है । उसी बात को भगवान् श्रीसनत्कुमारजी ने कहा है--"सत्व शुद्धि होने पर ही अविच्छिन्न स्मृति होती है" स्मृति लाभ होने पर हृदय की सभी संशय ग्रन्थियां टूट जाती है, ऐसा श्रुति प्रमाण प्रसिद्ध है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं--निर्मल विशुद्ध बुद्धि से युक्त पुरुष अपनी अविचल धृति से मन को रोक कर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रूप विषयों का त्याग कर लेता है अर्थात् उन विषयों से श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण इन इन्द्रियों को सर्वथा हटा लेता है, तब उसमें राग-द्वेष की भावना नहीं रहती । अतः उनको भी दूर हटाकर एकान्त सेवन करता है, उसका आहार पर भी नियन्त्रण हो जाता है अतः कम खाता है, तब वह वाणी, शरीर, मन तीनों पर नियन्त्रण रखने में समर्थ होता है । निरन्तर वैराग्य का आश्रय लेता हुआ वह साधक ध्यान योग (निदिध्यासन) में संलग्न रहता है । इस अवस्था में उसके अहङ्कार, बल दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह आदि आन्तरिक विकार रूप शत्रु निर्बल हो जाते हैं, उनको त्यागने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती, सहज में उन्हें छोड़कर, ममता रहित परम शान्त हो जाता है, इस प्रकार वह मुमुक्षु ब्रह्म भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है । ब्रह्म भाव को प्राप्त कर वह प्रसन्नात्मा हो जाता है, ऐसी स्थिति में उसे न किसी प्रकार शोक होता है न ही कुछ इच्छाएँ उसकी शेष रहती है । सभी प्राणियों में समभाव रखता हुआ वह भक्त मेरी पराभक्ति (फल रूपा भक्ति) को प्राप्त कर लेता है । फल रूप भक्ति योग ही भगवत्साक्षात्कार में हेतु है ।

अविच्छिन्न भक्ति भाव से ध्यान करता हुआ निष्कल ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, ऐसा श्रुति कहती है । भगवद्गीता में प्रभु पुनः कहते हैं--भक्ति के प्रभाव से ही भक्त मैं जितना और जिस रूप में हूँ यथार्थ रूप में मुझे जान लेता है । मुझे यथार्थतः जान लेने के बाद मेरे उस परम दिव्य अप्राकृत धाम को प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त विराट् स्वरूप मुझको अनन्य भक्ति योग के द्वारा जाना जा सकता है । हे परन्तप ! जानने, देखने तत्वतः प्रविष्ट होने के लिए भक्ति ही मुख्य साधन है । उसी फलरूप भक्ति को कहीं प्रेमलक्षणा, परा इत्यादि नाम से भी कहा है ।

जैसाकि सुदर्शन चक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्य ने वेदान्त दशश्लोकी में कहा है--यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा" अर्थात् दैन्यादि गुण युक्त जिस साधक पर प्रभु की अहैतुकी कृपा हो जाती है, उस साधक के हृदय में प्रेम विशेष-लक्षणा परा भक्ति का उदय होता है ।

तल्लक्षणं रूपादिविषयकस्वाभाविकचक्षुरादीन्द्रियवृत्तिवदनवच्छिन्न-स्वाभाविकभगवत्स्वरूपगुणविग्रहादिकविषयकयावदात्मवृत्तिमनोवृत्तित्वम्।

तथा चाह प्रह्लादः ।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पत्विति ॥

गीतं च श्रीमुखेनैव ।

सततङ्कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

इति ।

सर्वेन्द्रिसवृत्तिभिः स्वाभाविकीभिः निरतिशयप्रेम्णा मां भजन्त इत्यर्थः प्रेम्णा विना तुष्टिरमणयोरसम्भवादिति भावः, साधनेषु श्रेष्ठो ऽयमुपायः यस्य चोत्कर्षो ऽत्यादरेणोद्घुष्यते शास्त्रमुखेन स्वभक्तिमतां भगवतः प्रेष्ठ-तमत्वात् ।

यथा त्वं सहपुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः यह ।
यथा श्रिया ऽभियुक्तो ऽहं तथा भक्तो मम प्रियः ।

इति श्रीगोपालोत्तरतापिनीश्रुतौ ब्रह्माणं प्रति भगवदुक्तेः ।

भक्तिरेवैनं वर्द्धयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीत्याद्याः श्रुतयः ।

उस पराभक्ति का लक्षण कहते हैं--"रूपादि विषयों के प्रति जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक है उसी प्रकार परा भक्ति युक्त पुरुष की मनोवृत्ति अविच्छिन्न गंगा प्रवाहवत् भगवान् के स्वरूप गुण विग्रह आदि के प्रति समस्त इन्द्रियों, अन्तःकरणों सहित प्रवृत्त रहती है ।" उसी भाव को प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् से कहते हैं--"हे प्रभो ! अविवेकी विषयी

पुरुष की विषयों के प्रति जैसी अविच्छिन्न प्रीति रहती है, वैसी ही प्रीति (भक्ति) अविच्छिन्न रूप से आपका चिन्तन, स्मरण करते हुए मेरे हृदय में बनी रहे वहाँ से कभी न हटे ।" भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--"निरन्तर साधन परायण, व्रत को दृढ-पालन करने वाले मेरे मङ्गलमय नामों का संकीर्तन करते हुए परस्पर मेरी ही लीला कथाओं की चर्चाएँ करते हैं, सदा स्वयं संतुष्ट रहते हुए दूसरों को भी सन्तुष्ट करते हैं और सबको आनन्दित करते हैं । सभी इन्द्रिय वृत्तियों से स्वाभाविक रूप में निरतिशय प्रेम से मेरा ही भजन करते हैं" ऐसा श्लोक का तात्पर्यार्थ है । क्योंकि प्रेम के विना तुष्टि और रमण का होना सम्भव ही नहीं है । साधनों में श्रेष्ठ भक्ति योग रूपी साधन ही है, जिसका उत्कर्ष शास्त्रों में अत्यन्त आदर के साथ प्रतिपादित है । भगवान् को भी अपने भक्त ही अत्यन्त प्रिय होते हैं । गोपाल उत्तरतापिनी उपनिषद् में भगवान् श्रीहरि ने ब्रह्माजी से कहा है--हे ब्रह्मन् ! मेरे जिस प्रकार पुत्र-पौत्रों सहित आप प्रिय हैं, जैसे रुद्रगणों सहित भगवान् शिव प्रिय हैं, जैसी भगवती लक्ष्मी देवी मेरी परम प्रेयसी है वैसे ही मेरे अनन्य भक्त भी मेरे प्रियतम हैं । "भक्ति ही प्रभु में आनन्द की वृद्धि कराती है, भक्ति ही प्रभु का साक्षात्कार कराती है । परब्रह्म परमात्मा भक्ति के ही वशीभूत है अतः भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है" इत्यादि श्रुतियाँ भक्ति के उत्कर्ष का व्याख्यान करती हैं ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
न वेदयज्ञाध्ययनैः ।
पुरुषस्तु परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।।
यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।।
योगक्षेमं वहाम्यहम् ।
इति भगवद्वचनम् ।
नारायणीये नरनारायणौ ।।

नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते ।
यतः स्वयं दर्शितवान् स्वयमात्मानमात्मना ॥
मोक्षधर्म्मे ।
सहोपनिषदान्वेदान् ये विप्राः सम्यगाश्रिताः ॥
पठन्ति विधिमास्थाय ये चान्ये यतिधर्म्मिणः ।
तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम् ॥
उत्तरवाल्मीकीये श्रीसनत्कुमारः ।
न हि यज्ञफलैस्तात न तपोभिश्च संचितैः ॥
शक्यते भगवान् द्रष्टुं न दानेन न चेज्यया ।
तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैस्तत्परायणैः ॥
शक्यते भगवान् द्रष्टुं ज्ञाननिर्धुतकल्मषैः ।
इत्यादिस्मृतयः ॥३ ॥

भगवान् अर्जुन से कहते हैं--"हे अर्जुन ! जिस रूप में तुमने मेरे विराट् स्वरूप का दर्शन किया यह सब तुम्हारे भक्ति योग का ही प्रभाव है । मेरे इस रूप को कोई भी व्यक्ति वेदादि शास्त्रों के अध्ययन मात्र से, तपस्या से, विविध प्रकार के दान से और यज्ञ यागादिक से भी देखने अर्थात् साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकता । उस परात्पर पुरुष की उपलब्धि तो अनन्य भक्ति योग से ही सम्भव है । अनन्य भक्त मेरे लिये अत्यन्त प्रिय हैं । जो भक्त मेरे से अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं लेते उन अकिञ्चन अनन्य गति वाले भक्तों का मैं इस मृत्यु रूपी संसार सागर से उद्धार कर देता हूँ । जो अनन्य गतिक भक्त होते हैं उनका योग क्षेम अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति रूप योग और प्राप्त वस्तु के संरक्षण रूप क्षेम का मैं स्वयं ही वहन करता हूँ" इत्यादि भगवद्वचनों से भक्ति की अलौकिक महत्ता प्रकट होती है । महाभारत के नारायणीय प्रकरण में भगवान् श्रीनरनारायण कहते हैं-इन भगवान् श्रीकृष्ण को अपने भक्त से प्रियतर लोक में कोई भी नहीं है । क्योंकि प्रभु ने भक्तों के निमित्त अपने आपको विविध रूप में दर्शन कराया, व्यक्त कराया है । मोक्षधर्म में भी कहा है--जो विप्रजन विधि पूर्वक उपनिषद् सहित समस्त वेदों का पठन-पाठन करते हैं, यति धर्म का पालन करने वाले

संन्यास विधि का जो यथोचित आचरण करते हैं उनसे भी श्रेष्ठ भगवान् में ऐकान्तिक भक्ति करने वाले भक्तों की गति होती है ऐसा जानते हैं ।

वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में श्रीसनत्कुमारजी श्रीनारदजी से कहते हैं--"वत्स ! नारद ! भगवान् का साक्षात्कार यज्ञों के सञ्चित फलों से, तपस्या से, दान से, पूजा विधि से भी नहीं किया जा सकता । परन्तु ज्ञान से जिनका कल्मष धुल गया हो जो निरन्तर भगवत्परायण रहने वाले हों जिन्होंने अपने प्राण भी प्रभु को समर्पित किया हो (त्वयि धृतासवः) ऐसे अनन्य रसिक भक्तजनों द्वारा सहज में देखे जा सकते हैं" साक्षात्कार किये जा सकते हैं । ऐसी भक्ति की महिमा है ॥३॥

अथ ज्ञानयोगं लक्षणप्रमाणाभ्यां दर्शयति द्वाभ्याम्--

अब तीसरा साधन ज्ञान योग का विवेचन लक्षण प्रमाणों सहित दो पद्यों से दर्शाते हैं ।

येन ब्रह्मात्मकं सर्वं विद्वद्भिर्ज्ञायते जगत् ॥
अथ परेतिवाक्येन परविद्येति भण्यते ॥४॥
छान्दोग्ये भूमविद्यायां प्रोक्तं श्रीसनकादिभिः ॥
नारदायर्षिवर्याय यत्तज्ज्ञानमिहोच्यते ॥५॥

जिस ज्ञान योग के द्वारा विद्वान् पुरुष चराचर सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मात्मक रूप से जानते हैं और "अथपरा" इस वाक्य से जिसे पर विद्या नाम से कहा जाता है । छान्दोग्य उपनिषद् के भूमविद्या प्रकरण में जिसका उपदेश महर्षि श्रीसनकादिकों ने देवर्षिवर्य श्रीनारदजी को किया है वही तत्व यहाँ पर ज्ञान कहा गया है । यह कारिका का संक्षिप्तार्थ है ।

येन सर्वं जगद्ब्रह्मात्मकं विद्वद्भिर्ज्ञायते तज्ज्ञानमिहोच्यते इति द्वितीय-श्लोकगतेन तच्छब्देनाऽन्वयः । एतेन ज्ञानमुक्तं तत्र श्रुतिं प्रमाणयति अथपरेति स्पष्टार्थः "अथ परा यया ऽक्षरमधिगम्यते" इति उपलक्षणार्थमिदं "येनाऽक्षरं परमं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्या" मित्यादिश्रुतीनाम्, परब्रह्मश्री-पुरुषोत्तमवेदनासाधारणकारणवेदान्तविचारजन्यं परविद्याख्यं शास्त्रे विव-क्षितमित्यर्थः ॥४॥

"यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" इस नियम के अनुसार येन इस पद का द्वितीय श्लोकस्य "तत्" इस पद के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् जिससे सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मात्मक रूप से विद्वज्जन जानते हैं उस तत्व को ज्ञान कहा जाता है । इस कथन से ज्ञान योग का लक्षण बताया गया । इसमें श्रुतियों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं--"अथ परा" इति इस के अनन्तर परा विद्या कही जाती है जिससे अक्षर तत्त्व (आत्म तत्त्व) का अधिगम प्राप्त होता है । यह श्रुति वाक्य "जिस विद्या के द्वारा जिज्ञासु परम सत्य अक्षरतत्व को जानता है सद्गुरुदेव ने यथार्थतः साङ्गोपाङ्ग उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश किया इस श्रुति का भी उलक्षणार्थ है" उपलक्षण का स्वरूप शास्त्रकारों ने बताया--"स्वबोधकत्वे सति स्वेतर बोधकत्वमुप लक्षणम्" अर्थात् जो वाक्य स्वयं के अर्थ का बोध करते हुए सजातीय स्वेतर (अपने से भिन्न) वाक्य के अर्थ का भी बोधक होता है । उसे उपलक्षण कहते हैं । यहाँ पर "अथ परा" यह वाक्य "येनाक्षरम्" इस वाक्य का भी बोधक हुआ । अतः परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम का ज्ञान करने में असाधारण कारण रूप वेदान्तविचारों से समुत्पन्न पर विद्या को ही इस शास्त्र में ज्ञान कहा गया है, यही अर्थ विवक्षित है ॥४॥

उक्तार्थे संप्रदायं प्रमाणयन् संप्रदायस्य वैदिकत्वं दर्शयन्नाह श्रीसनकादिभिः श्रीनारदाय यत्प्रोक्तं तज्ज्ञानमिहोच्यते इति सम्बन्धः नारं नरसम्बन्ध्यज्ञानं द्यतीति नारद इति निर्वचनं हृदि निधाय विशिनष्टिऋषिवर्यायेति श्रीभगवच्छास्त्राख्यपञ्चरात्रप्रवर्तकायेत्यर्थः ।

सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदाया ऽखिलतत्त्वसाक्षिणे ।

इति श्रीआद्याचार्य्योक्तेः ।

व्याख्यातं च श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैः सर्वत्तत्त्वविषयकप्रत्यक्षानुभवाश्रयभूताय सर्वज्ञायेति ।

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वित--

मितिवचनात् ।

सर्ववेदार्थरूपश्रीपञ्चरात्रप्रवर्तकायेतिभाव इति ।

उक्तार्थे निरपेक्षं श्रौतप्रमाणं पठति छान्दोग्येभूमविद्यायामिति यो भूमा तदेव सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इत्यादिना भूमासंप्रदायात् अध्युपदेशात् इति सूत्रकारोक्तेश्च स्वरूपगुणशक्त्यादिभि-र्निरतिशयबृहद्ब्रह्मैव भूमशब्दाभिधेयमितिसंक्षेपः । विशेषार्थस्तु वेदान्तरत्न-मञ्जूषायां द्रष्टव्यः ॥५ ॥

पूर्वोक्त प्रसंग में सम्प्रदाय को प्रमाणित करते हुए और सम्प्रदाय को वैदिक स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं--"श्रीसनकादिकों ने श्रीनारदजी को जो तत्व बताया वही यहाँ ज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है ऐसा सम्बन्ध है ।" नर (मनुष्य) सम्बन्धी अज्ञान को "नार" कहते हैं, उसको "द्यतिखण्डयति" खण्डित करने से नारद शब्द बना । देवर्षि नारदजी मनुष्य मात्र में व्याप्त अज्ञान, अविवेक को दूर कर उसे निर्मल ज्ञान प्रदान करते हैं । क्योंकि वे जगत् के गुरु हैं ।

गुरु-शब्द का अर्थ भी अज्ञान को दूर कर शिष्य में ज्ञान का प्रकाश कराना है । इसी आशय को ध्यान में रखकर भगवत्तत्त्व प्रतिपादक शास्त्र पाञ्चरात्र के प्रवर्तक के लिए यह अर्थ स्पष्ट है । पाञ्चरात्र समस्त वैष्णवों का परम प्रामाणिक आगम शास्त्र है । इसी बात को आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् कहते हैं--"हमारे गुरुदेव अखिलत्व के ज्ञाता श्रीदेवर्षि नारदजी को जिस तत्व का उपदेश सनन्दनादि मुनियों ने किया वही मैं इस दशश्लोकी में व्यक्त कर रहा हूँ । श्रीनिम्बार्क भगवान् से चतुर्थ पीठिका में विराजमान श्रीमत्पुरुषोत्तमाचार्यजी ने "अखिल तत्व साक्षिणे" इस पद की व्याख्या करते हुए सकलतत्व विषय प्रत्यक्ष अनुभव के आश्रय भूत सर्वज्ञ नारद के लिए ऐसा कहा । यह नारद पञ्चरात्र रूप आगम शास्त्र चारों वेदों से समन्वित एवं महान् उपनिषद् स्वरूप है ऐसे समस्त वेदार्थ रूप पञ्चरात्र शास्त्र के प्रवर्तक श्रीनारद के लिए सनकादिकों ने उपदेश किया । यह अनादि वैदिक परम्परा होने का अकाट्य प्रमाण है । प्रमाणों में वैदिक प्रमाण निरपेक्ष होता है, वह किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता । उसी श्रौत प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं ।

"छन्दोग्ये भूमविद्यायामिति" जो भूम है वही सुख रूप है अल्प अर्थात् अल्पज्ञ अल्पशक्ति में वह शाश्वत आनन्द नहीं है, सर्वज्ञ सर्वशक्ति भूम रूप परमात्मा में ही अनन्त सुख है, अतः उस भूमा पुरुष की जिज्ञासा करनी चाहिए । उन सकल कल्मष रहित नारदजी को अज्ञान परे परब्रह्म के दिव्य स्वरूप के दर्शन कराते हैं श्रीसनत्कुमारजी--इत्यादि भूमविद्या के प्रकरण से "भूमासम्प्रदायात् अनुपदेशात्" कहकर सूत्रकार ने भी वही विषय प्रस्तुत किया । इस प्रकार श्रुति-सूत्र प्रमाणों से स्वरूप गुण शक्ति से जो निरतिशय बृहद् परब्रह्म है उसी को यहाँ भूमा शब्द से कहा गया है । इसका विस्तार वेदान्तरत्नमञ्जूषा में है ।।५ ।।

अथ प्रपत्तियोगमाह -- अब प्रपत्तियोग बताते हैं ।

आत्मात्मीयभरन्यासो विधिना पुरुषोत्तमे ।।
सा प्रपत्तिरिति प्रोक्ता षडङ्गा वै मनीषिभिः ।।६ ।।

आत्मा स्वयं का और आत्मीय--अपने आश्रित स्त्री-पुत्र-सेवक आदि के भरण-पोषण-रक्षण आदि का जो भार दायित्व है अर्थात् स्वयं में कर्तृत्वादिका जो भाव है वह सब विधिपूर्वक परमात्मा में समर्पित करना प्रपत्ति कहलाती है । विद्वानों ने उस प्रपत्ति (शरणागति) के छ भेद बताये हैं ।

श्रीपुरुषोत्तमे श्रीगीताचरमोपदेशे पञ्चरात्रौ च तेनैव प्रोक्तविधिना आत्मात्मीयभरन्यास इति यः सा प्रपत्तिरिति मनीषिभिः प्रोक्तेति सम्बन्धः, सा षडङ्गा ज्ञेयेतिशेषः । "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये" इतिश्रुतेः ।

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथाऽसुखम् ।
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम् ।।
अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत ।
विमुक्तान्यसमारम्भान्नारायणपरो भव ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादादवाप्नोषि शाश्वतं पदमव्ययम् ।।

सर्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ इतिस्मृतेश्च,
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥६॥

श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारहवे अध्याय में तथा नारद पञ्चरात्र आदि में बताये अनुसार भगवान् श्रीपुरुषोत्तम श्रीहरि में आत्मऔर आत्मीयजन के पोषण-रक्षण आदि का भार समर्पित करना प्रपत्ति कहलाती है, विद्वज्जनों ने उसके ६ अङ्ग अर्थात् भेद बताये हैं। शरणागति का स्वरूप श्रुति में--जो परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मदेव को प्रगट करके उन्हें ज्ञान रूपी वेदराशि का उपदेश करते हैं, उन्हीं आत्मा और बुद्धि के प्रेरक प्रकाशक तेजोमय प्रभु के शरण में मैं मुमुक्षुभाव से प्राप्त हुआ हूँ, इस प्रकार कहा है । स्मृतियों में भी विभिन्न रूप से शरणागति के स्वरूप निरूपित किये हैं । जैसे--तब तक मनुष्य को नानाविध आर्ति क्लेश आते हैं तभी तक विषय वासना बनी रहती है, आत्मात्मीय वस्तुओं के प्रति मोह अर्थात् उनमें असक्ति भी तभी तक रहती है, विविध प्रकार के दुःख भी तब तक बने रहते हैं जब तक हे प्रभो ! यह जीव अशेष पापों को नाश करने वाले आपकी शरण में नहीं प्राप्त होता। प्रभु स्वयं कहते हैं--भारत ! तुम यदि पाप से भयभीत हो तो सर्वतो-भावेन अन्य सभी आरम्भ कर्मों को त्याग कर भगवत्परायण (शरणागत) हो जाओ । सभी प्रकार से उसी परमात्मा की शरण में जाओ उस सर्वनियन्ता सर्वेश्वर के अनुग्रह से ही शाश्वत अविनाशी पद प्राप्त कर पायोगे । "हे अर्जुन ! सभी धर्म अर्थात् यज्ञ, दान, तप, दर्श, पौर्णमासी आदि कर्मों के अङ्ग-उपाङ्गों की फलाशा छोड़कर साथ ही उन कर्मों के करने न करने के गुण दोष की ओर ध्यान न देकर मेरी शरण में आ जाओ । मैं माया सम्बन्धी गुणत्रय रहित अनन्त कल्याणमय ज्ञान बल ऐश्वर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हूँ । चराचर जगत् का नियन्ता सच्चिदानन्द स्वरूप, ब्रह्मशिवादि वन्दित मुमुक्षु साधकों का उपास्य एवं प्राप्य भी मैं ही हूँ । तुम शोक मत करो तुम्हारा सारा उत्तर-दायित्व मैं ही वहन करूगा । तुम तो केवल मेरे शरणापन्न होकर मेरी आज्ञा का पालन करो ।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम कहते हैं--"मनुष्य पशु, पक्षी जो कोई भी प्राणी एक बार भी हे प्रभो ! मैं आपका हूँ आपकी शरण में आया हूँ मेरी रक्षा कीजिये ऐसा कहता है, उसको किंवा उन प्राणी मात्र को अभय दान देकर मैं अपने पास रखता हूँ यह मेरा व्रत है । इत्यादि ॥६॥

अङ्गानि च ।

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्ज्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।

इति ।

तत्र ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिजातस्यान्तरात्मा भगवांच्छ्रीपुरुषोत्तम इति निश्चयेन सर्वेषामनुकूलाचाराध्यवसायः प्रथमोऽङ्गम् ।

चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः ॥
अतस्तदानुकूल्यं मे कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥

इति लक्षणवचनात् ॥१॥

शरणागति के अङ्ग बताते हैं--

अनुकूल का सङ्कल्प, प्रतिकूल का परित्याग, प्रभु अवश्य रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास, गोप्तृत्व का वरण, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य यह छः प्रकार की शरणागति आचार्यों ने बतायी है, उनमें ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त किंवा लतावृक्ष वनस्पति आदि स्थावर पर्यन्त चराचर प्राणिमात्र के अन्तरात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं ऐसा ही निश्चय करके सभी के प्रति अनुकूल का व्यवहार करना अनुकूल संकल्प इस शरणागति का प्रथम अङ्ग है । कहा भी है--सम्पूर्ण चराचर प्राणि भगवान् का ही श्रीविग्रह है, अतः उन सबके प्रति अनुकूल व्यवहार करना मेरा परम कर्तव्य है ऐसा निश्चय होना ॥१॥

आनुकूल्याद्विपरीतस्य परहिंसामात्सर्य्यादेस्त्यागो द्वितीयः, विरोधि-निरूपणे वक्ष्यते ।

परापवादं पैशुन्यमनृतं यो न भाषते ।
परोद्वेगकरं वापि तोष्यते तेन केशवः ॥
परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम् ।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥
न ताडयति नो हन्ति प्राणिनो ऽन्यांश्च देहिनः ।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः ॥
इति वैष्णवे और्वः सगरम् प्रति ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
इति श्रीमुखोक्तेश्च ॥२॥

आनुकूल्य से विपरीत परहिंसा, परोत्कर्षाऽसहिष्णु रूप मात्सर्यादि दोषों का त्याग प्रतिकूल वर्जन रूप दूसरा शरणागति का अङ्ग है । विष्णु पुराण में महर्षि और्व महाराज सगर को इसी प्रतिकूल वर्जन का उपदेश देते हुये कहते हैं--"हे राजेन्द्र जो मनुष्य परापवाद अर्थात् दूसरों की निन्दा नहीं करता, चुगलखोरी नहीं करता, असत्य भाषण नहीं करता, दूसरों को उद्विग्न करने वाली कठोर वाणी नहीं बोलता उससे भगवान् केशव प्रसन्न रहते हैं । जो परस्त्री और परद्रव्य पर लालच नहीं रखता, परहिंसा पर भी प्रवृत्त नहीं होता, हे भूपेन्द्र ! उस व्यक्ति के सद्व्यवहार से श्रीहरि सदा सन्तुष्ट रहते हैं । जो मनुष्य अपने छोटों, निर्बलों, पशु-पक्षी आदि प्राणियों को प्रताड़ित नहीं करता, न ही उन पर प्राणघातक हमला करता, अन्य देहधारी किसी भी जीव को कोई कष्ट नहीं पहुँचाता उस दयालु मनुष्य के सद्व्यवहार से भगवान् श्रीकेशव अत्यन्त सन्तुष्ट रहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा--"हे पाण्डव ! जो सभी प्राणियों के प्रति वैर भावना से रहित होता है ऐसा महाभागवत पुरुष निश्चय ही मुझे प्राप्त कर लेता है" ॥२॥

वात्सल्यादिगुणाकरः सर्वाश्रयः सर्वशरण्यः प्रपन्नानस्मान् रक्षिष्यत्येवेति व्यवसायो विश्वासः ।

रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः ।
स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः ॥

इति लक्षणवचनात् ॥३॥

सर्वज्ञः सर्वरक्षासमर्थः कारुण्यवात्सल्यादिगुणसागरोऽपि श्रीपुरुषोत्तमः प्रार्थनाशून्यैरात्मपराङ्मुखैरप्रार्थितो न गोपायति अन्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गात् शास्त्रसेतुभङ्गापत्तेश्चेति निश्चित्य बुद्धेः सदैव प्रार्थनाप्रावण्यं गोप्तृत्ववरणं चतुर्थमङ्गम् आत्मरक्षाविषयकतद्रक्षितृत्वव्यवसायविशेष इति यावत् ।

अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थना मतिः ॥
गोपायिता भवत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम् ।
इति ।
प्रार्थनास्वरूपं तु ॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ॥
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ।
इत्यादिमन्त्रैः ॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो ।
धरणिधरा ऽच्युत शङ्खचक्रपाणे ॥
भव शरणमुदीरयन्ति ये वै ।
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥
इत्यादिभिः स्मृतिभिश्च बोध्यम् ॥४॥

वात्सल्यादि गुणों के आकर, सभी के आश्रय स्वरूप, शरणागतवत्सल भगवान् श्रीहरि शरण में आये हुये हम सभी की रक्षा अवश्य करेंगे इस प्रकार के दृढ़ विचार को विश्वास कहते हैं । देवगुरु वृहस्पति इन्द्र से कहते हैं--हे देवेन्द्र ! शरण में आये हुए हम अनुकूल भक्तों की परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि अवश्य रक्षा करेंगे, इस प्रकार की सुनिश्चित दृढ़ बुद्धि होना समस्त दुष्कृत्यों का नाश करने वाला विश्वास कहलाता है । इन लक्षण युक्त वचनों से भगवान् में रक्षकत्व विश्वास रखना शरणागति का तीसरा अङ्ग बताया गया है ।

सर्व रक्षा समर्थ, सर्वज्ञ एवं कारुण्य वात्सल्यादि गुणों के सागर होने पर भी श्रीपुरुषोत्तम प्रभु प्रार्थना रहित अपने से पराङ्मुख जनों की बिना प्रार्थना के रक्षा नहीं करते । जैसे पुत्रवत्सला भी माता क्रीड़ासक्त बालक को

रोदनादि विना स्तन पान नहीं कराती, उसी प्रकार श्रीहरि भी प्रार्थना के विना भक्तवत्सल होने पर भी उसकी रक्षा नहीं करते । यदि विना प्रार्थना ही रक्षण होने लगे तो सबका मोक्ष हो जाएगा, तदर्थ शास्त्राभ्यास, सत्सङ्गादि मर्यादाएँ नष्ट हो जायेंगी, ऐसा निश्चय कर बुद्धि को सदैव भगवत्प्रार्थना परक बनाना गोप्तृत्ववरण रूप चौथा शरणागति का अङ्ग है । अपनी रक्षा के विषय में उनके रक्षकत्व का विचार होना इसका तात्पर्य है । शास्त्र बताते हैं-"विना प्रार्थना किये वे रक्षा नहीं करेंगे इस प्रकार जिसकी प्रार्थना युक्त जो बुद्धि हो जाती है, उसके भगवान् रक्षक होते ही हैं" इस प्रकार यह गोप्तृत्ववरण का स्वरूप समझना चाहिए । प्रार्थना कैसे की जाती है ? उसका स्वरूप बताते हैं--"हे रुक्मिणी कान्त ! आप अनन्त गोपीवृन्द के मन को हरण करने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप हो, हे जगद्गुरो ! मैं इस संसार सागर में डूब रहा हूँ, अतः हे प्रभो ! मेरा उद्धार करो ।" इत्यादि उपनिषद् मन्त्रों से प्रार्थना व्यक्त की है ।

धर्मराज यम अपने भृत्यों से कहते हैं--"हे दूतों ! जो वैष्णव भक्तजन अपने आराध्य श्रीहरि से, हे कमलनयन, ! हे अच्युत !, हे वासुदेव ! हे विष्णो ! आप विश्व की आधार रूपा धरणि को भी वराह रूप से धारण (उद्धार) करते हो आपने भक्तों के सर्वविध संकट दूर करने हेतु अपने हस्तकमल में शङ्ख-चक्र धारण किये हैं हे शरणागत वत्सल ! आप हमारे रक्षक बन जाइये" इस प्रकार प्रार्थना (पुकारा) करते हैं, उन भगवज्जनों को तुम दूर से ही छोड़ देना, उनके पास मत जाना । क्योंकि वे भगवद्भक्ति के प्रभाव से निष्पाप हो गये हैं । इत्यादि स्मृति प्रमाण भी इस प्रसङ्ग में अवश्य समझने चाहिये ॥३-४॥

प्रपत्तव्यस्य माधवस्य निरतिशयप्रसादहेतुः प्रपत्तिरेवेतिनिश्चयेन रक्ष्यमाणस्यात्मनोहंममत्वफलस्वाम्यादीनां भारस्य श्रीभगवति समर्पणमित्यात्मनिक्षेपः ।

आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ।
इति लक्षणात् ।

मोक्षधर्म्मे उपरिचराख्याने च ।।

आत्मा राज्यं धनं मित्रं कलत्रं वाहनानि च ।

एतद्भगवते सर्वमिति तत्प्रोज्झितं सदेति ।।

अथ वाल्मीकीये श्रीभरतः ।

राज्यं चाऽहं च रामस्य धर्म्मं वक्तुमिहार्हसि ।।

इति ।

सर्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

इति श्रीमुखगानात् ।।५।।

शरणागत वत्सल श्रीहरि के निरतिशय प्रसाद प्रीति का कारण प्रपत्ति अर्थात् शरणागति ही है ऐसा निश्चय करके रक्ष्यमाण स्वयं का अहंत्व, ममत्व, कर्मफल के स्वामित्व आदि के भार का भगवान् में समर्पित करना आत्म निक्षेप कहलाता है । इसीलिए लक्षण वचन में कहा--"आत्मात्मीय भरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते" इति । शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण के राजा उपरिचराख्यान में पितामह भीष्म कहते हैं--वत्स ! युधिष्ठिर ! स्वयं राज्य, धन, मित्र, कलत्र, वाहन आदि जितने भी पदार्थ हैं ये सब उस राजा उपरिचर ने भगवान् के लिए सदा समर्पित किये थे । भरतजी ने भी वाल्मीकि रामायण में गुरु वशिष्ठ से कहा--प्रभो राज्य मेरा नहीं राज्य और मैं भी राम के हैं ऐसा धर्म युक्त वचन कहें । भगवान् श्रीकृष्ण भी श्रीमुख से कहते हैं--अर्जुन ! सभी धर्मों की फलाशा छोड़कर मेरी शरण में आजा । मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा, शोक मत करो" इत्यादि आत्मनिक्षेप रूप शरणागति का यह पाँचवा अङ्ग समझना चाहिए ।।५ ।।

उपायानामसिध्या तद्विपरीतानामपायानां च स्वतः प्राप्त्या स्वकर्तृत्वाद्यभिनिवेशरूपगर्वस्य हानिः कार्पण्यम् ।

उपाया नैव सिध्यन्तीत्यपाया विविधास्तथा ।

इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्प्पण्यमुच्यते ।।

इति वचनात् ।

एतेषु षडङ्गेषु आत्मनिक्षेपो ऽङ्गित्वान्मुख्यः अन्ये च तत्सहकारिणस्तदङ्गभूता गौणा इति विवेकः ॥६॥ (इति शरणागतिभेदाः)

उपायों की असिद्धि एवं उसके विपरीत अपायों की स्वतः प्राप्ति से अपने में कर्त्तृत्व आदि के अभिनिवेश रूप गर्व की हानि समझना कार्पण्य है । कहा भी है--"उपाय तो कोई सिद्ध नहीं होते किन्तु नाना प्रकार के अपाय (विघ्न) उपस्थित होते हैं" इस प्रकार मन में जो ग्लानि अर्थात् गर्व-हानि होती है उसी को दैन्य कहते हैं, इसी दैन्य रूप कार्पण्य को शरणागति का छठा अङ्ग कहा गया है । इन छः अङ्गों में आत्मनिक्षेप मुख्य अङ्गी है, अन्य पाँच उसके अंग तथा सहकारी होने से गौण हैं ऐसा समझना चाहिए ॥६॥ (ये शरणागतिभेद हैं)

अथ गुरुशरणागतिर्द्विविधा पराङ्गभूता स्वतन्त्रा चेति तत्र पराङ्गभूतत्वं नाम साधनान्तरसहकारित्वे सति तदसाधारणहेतुत्वम् ।

तथा च मोक्षधर्मे ।

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याऽधिगमः कु तः ॥

गुरुः पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते ।

इत्यादिना ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमित्यादिश्रुतेश्च सा च पूर्वमेव निरूपिता । द्वितीया च उक्तलक्षणो मुमुक्षुः उक्तलक्षणं गुरुमुपाश्रित्य देववच्छ्रीगुरुशुश्रूषापरो भूत्वा तदनुकूलवृत्तितया आत्मनः सर्वोपायानर्हतां मत्वा श्रीगुरुदेव एव मम सर्वसाधनभूस्तत्फलरूपश्चेति दृढविश्वासेन यथा बालः स्वहिताहितानभिज्ञो मातरमेवं सर्वभावेनाऽनुसरति तन्माता च तं सर्वापद्भ्यो रक्षति तस्य सर्वयोगक्षेमं च वहति तथैव स्वहिताहितविचारं सर्वं परित्यज्य श्रीगुरुशुश्रूषापरायणो मुमुक्षुर्यदा भवेत् तदैव तस्य सर्वात्मना रक्षणं योगक्षेमं साधनफलयोः साधकं च करुणावरुणालयः श्रीगुरुः स्वयमेव करोतीति स्तनन्धयशिशो रोगनिवृत्तये तन्मात्रौषधभक्षणादिवदित्याशयेनाह ।

अब गुरु शरणागति का निरूपण कहते हैं--पराङ्गभूता और स्वतन्त्रता के भेद से गुरु शरणागति दो प्रकार की बतायी गई है । उनमें पराङ्गभूता

का लक्षण है साधनान्तरों के सहकारित्व होते हुए शरणागति का असाधारण हेतुत्व होना । शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण में कहा है--"गुरु के सम्बन्ध के विना ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? मुमुक्षु साधक को भव सागर से पार करने वाले तो गुरु है और ज्ञान उसके लिए नौका कही गई है ।" इत्यादि श्रुति कहती है--"उस परब्रह्म तत्व को जानने के लिए जिज्ञासु साधक को पुष्प समिधादि हाथ में लेकर जन्म से ब्राह्मणत्व को संस्कार से द्विजत्व को और विद्या से विप्रत्व को प्राप्त किये हुए श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाना चाहिए, उनसे ज्ञान पूर्वक ब्रह्म विद्या प्राप्त करें यह पराङ्गभूता शरणागति है । स्वतन्त्रता गुरु शरणागति वह है पूर्वोक्तलक्षण वाला मुमुक्षु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर गुरु में भगवद् बुद्धि धारण करते हुए शुश्रूषा परायण होकर गुरु के अनुकूल व्यवहार करते हुए अपने को सभी उपायों को सम्पादित करने में असमर्थ मान कर श्रीगुरुदेव ही मेरे सब साधन स्वरूप हैं और उन साधनों के फलरूप भी वे ही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास रखे, जैसे शिशु अपने हित-अहित न जानता हुआ अपनी माता का ही सर्वात्म भाव से अनुसरण करता है, उसकी माता भी उस बालक को सभी विपत्तियों से बचाती है और उसके सर्वविध योगक्षेम का वहन करती है उसी प्रकार शरणागत शिष्य भी अपने हिताहित का विचार छोड़कर श्रीगुरुदेव की सेवा में ही संलग्न होता रहता है तब परम दयालु श्रीगुरुदेव उस अकिञ्चन शिष्य की सर्वात्म-भाव से रक्षा और साधन, फल दोनों के साधन सहित योगक्षेम का स्वयं वहन करते हैं । स्तनन्धय शिशु के रोग निवृत्ति हेतु उसकी माता के द्वारा औषध भक्षण (पान) की तरह शिष्य के दोष निवृत्ति हेतु श्रीगुरुदेव स्वयं उपाय करते हैं । अतः सब भारार्पण गुरु को करें, इसी का निर्देश करते हैं--

तथैव सर्वभावेन गुरौ भारार्पणं बुधैः ।
गुरुप्रपत्तिर्विज्ञेया ह्यात्मात्मीयस्य साधुभिः ॥७॥

यथा हरावात्मात्मीयस्य भारार्पणं पूर्वोक्तं तथैव तेनैव प्रकारेण बुधैर्विवेकिभिः साधुभिः सदाचारनिष्ठैः सर्वभावेन मानसवाचिककायिक-

व्यापाराभेदेन आर्ज्जवेनेतियावत् साधनं साध्यं च गुरुरेवेति भावेन वा अथ वा सर्वसबन्धाश्रयत्वेन विषयत्वेन श्रीगुरौ आत्मात्मीयस्य भारार्प्पणं गुरु-प्रपत्तिर्विज्ञेयेति सम्बन्धः ।

जिस प्रकार श्रीहरि में आत्मात्मीय वर्ग का भारार्पण कहा गया है उसी प्रकार पूर्वोक्त विधि से विवेकी विद्वान् और सदाचार निष्ठ साधु पुरुषों ने गुरु में आत्मात्मीय वर्ग का भारार्पण बताया है । तथाहि--मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार की अभिन्नता से अर्थात् "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" इस नीति वचन के अनुसार मन वचन कर्म की एक रूपता से साधन साध्य श्रीगुरुदेव ही है , इत्यादि भावना रूप सर्व सम्बन्धा-श्रयत्व विषय से श्रीगुरु में आत्मात्मीय भारार्पण को गुरु प्रपत्ति समझनी चाहिए ।

अतिदेशोऽत्र श्रुत्यर्थस्मारणार्थः ।

यथा देवे तथा गुराविति श्रुतिः--

पूर्वमेव पठिता, तस्या ऽनुष्ठानप्रकारश्च "आचार्य्यदेवो भव गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै न द्रुह्येत्कदा-चन" इत्यादिश्रुतिभिः ।

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परं धनम् ।
गुरुरेव परः कामो गुरुरेव परायणम् ॥
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परा गतिः ।
अर्चनीयश्च वन्द्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा ॥
ध्यायेज्जपेन्नमेद्भक्त्या भजेदभ्यर्थयेन्मुदा ।
उपायोपेयभावेन तमेव शरणं व्रजेत् ॥
शरीरं चा ऽसुविज्ञानं वासः कर्म गुणान् वसून् ।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः ॥

इति जयदाख्यानसंहितावचनैश्च बोध्यः ।

अथ गुरोर्लक्षणं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमित्यादिश्रुतेः ॥

त्रिषु वर्णेषु संभूतो मामेव शरणं गतः ।
नित्यनैमित्तिकपरो मदीयाराधेन रतः ॥

आत्मीयपरकीयेषु समो देशिक उच्यते ।

इति ।

आचार्य्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ॥

मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः ।

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः ॥

एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च बोध्यं विपर्यये दोषस्मरणात् ॥

भिन्ननावाश्रितः स्तब्धो यथा पारं न गच्छति ।

ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात् ॥

इत्यादिना--

यहाँ पर अतिदेश वचन "जैसे-श्रीहरि में भक्ति करते हैं वैसे ही श्रीगुरुदेव में भक्ति करनी चाहिए" इत्यादि पूर्वपठित श्रुति वचन के अर्थ का स्मरण कराने के लिए है । गुरु सेवा का प्रकार भी शास्त्र में बताया है-- "आचार्य में देवत्व भाव करो, श्रीगुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, वेही विद्या (ज्ञान) को प्रकट करते हैं, ब्रह्म विद्या अथवा ब्रह्म सम्बन्ध होने से शिष्य का श्रेष्ठ जन्म माना गया है । अतः ऐसे उत्तम जन्म प्रदान करने वाले श्रीगुरुदेव से कभी भी द्रोह न करे" इत्यादि जयदाख्यान संहिता में कहा है- गुरु ही परब्रह्म हैं, गुरु ही परमधन है, श्रीगुरु ही सभी कामना है, गुरु ही परम आश्रय है, गुरु ही परा विद्या, गुरु ही परा गति है अतः श्रीगुरुदेव की सदा अर्चना, वन्दना करे और उनके नामों का कीर्तन करे । भक्ति भावना से ध्यान करे, जप करे, सेवा प्रार्थना भी प्रसन्नता के साथ करे । उपाय और उपेय भाव से उनकी ही शरण में रहे । जो साधक अपना शरीर, प्राण, बुद्धि, वस्त्र कर्म, गुण, धन आदि सब कुछ श्रीगुरुदेव के निमित्त समझता धारण करता है वही शिष्य है अन्य नहीं ।

गुरु का लक्षण तो "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इस मन्त्र में व्यक्त किया गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में समुत्पन्न और भगवत् शरणापन्न, नित्य नैमित्तिक कर्मों का परिपालन करने वाला भगवदाराधन में निरत, अपने पराये सभी वर्गों में समबुद्धि रखने वाला आचार्य कहलाता है।

वेद शास्त्र का ज्ञाता, विष्णुभक्त मात्सर्य दोष रहित, मन्त्र के भाव को जानने वाला, मन्त्र में निष्ठा रखने वाला, सदा पवित्र भाव से जो मन्त्र का आश्रय लेता है वह आचार्य होता है । गुरु भक्ति से युक्त विशेष रूप से पुराणों का ज्ञाता, इत्यादि लक्षणों से युक्त सत्पुरुष, गुरुकहलाने योग्य है । इत्यादि स्मृति वचनों से गुरु के स्वरूप लक्षण का परिज्ञान करना चाहिए । उक्त स्वरूप लक्षणों से विपरीत गुरु का आश्रय लेने में दोष बताया है ।

जिस प्रकार टूटी-फूटी नाव का आश्रय लेने वाला अज्ञानी जन नदी पार नहीं कर सकता उसी प्रकार ज्ञान हीन गुरु का आश्रय लेने वाला मुमुक्षु मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता । इत्यादि ।

अथ शिष्यलक्षणम्--अब शिष्य का लक्षण बताते हैं--

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्वितायेत्यादि-श्रुतेः ।

आस्तिको धर्म्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवः शुचिः ।
गम्भीरश्चतुरो धीरः शिष्य इत्यभिधीयते ॥

इत्यादिस्मृतेः--

गुरुणा च शिष्यः परीक्षापूर्वकं शिक्षणीय इति मोक्षधर्म्मे श्रीव्यासः ।
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथञ्चन ।
यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनघर्षणैः ॥
परीक्ष्यते तथा शिष्यानीक्षेत्कुलगुणादिभिः ।
इति ।

नाऽसंवत्सरवासिने ब्रूयादितिश्रुतेः ।
शिष्येण युक्तलक्षणः श्रीगुरुर्हरिवदुपास्यः ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

आचार्य्यदेवो भवेदित्यादिश्रुतिभ्यः, आचार्य्योपासनमिति भगवदुक्तेश्च, विपर्यये तु नारायणोपि न गोपायति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्नि तोषयति ।

वह शास्त्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु शरण में आए हुए, प्रशान्त चित्त, शम-दमादि गुणों से युक्त उस शिष्य को सम्यक् प्रकार से ब्रह्मविद्या का उपदेश करे" इस श्रुति वचन से शरणागत शिष्य को शम-दमादि गुण सम्पन्न, प्रशान्त चित्त होना आवश्यक है । स्मृति में भी कहा है जो वेदादि शास्त्रों को प्रमाण मानता हो, धर्म के सभी अंगों का पालन करता हो, शीलवान्, सम्प्रदाय परम्परानिष्ठ वैष्णव हो, भीतर-बाहर सभी प्रकार से शुद्धता युक्त हो, गम्भीर चतुर और धीर हो उसे शिष्य कहते हैं । गुरु को भी शिष्य की अच्छी तरह परीक्षा करके ही उसे शिक्षा (मन्त्रोपदेश) देनी चाहिये यह बात मोक्ष धर्म प्रकरण में स्वयं भगवान् वासुदेव कहते हैं--

"जिसके चरित्र की सम्यक् परीक्षा न ली गयी हो उस व्यक्ति को ब्रह्म विद्या का उपदेश कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि जैसे सुवर्ण की शुद्धता अग्नि में तपाने, छेदन करने और कसौटी में घिसने से पहचानी जाती है वैसे ही शिष्य की भी कुल गुण आदि से परीक्षा करनी चाहिये ।" श्रुति में कहा है--"वर्ष दिन तक पास न रहने वाले को दीक्षा न दे ।" इत्यादि ।

शिष्य को भी पूर्वोक्त गुण विशिष्ट गुरु की श्रीहरि की तरह सेवा, उपासना करनी चाहिये । "जिस शिष्य की भक्ति भावना जैसे श्रीहरि में है वैसी ही भक्ति भावना श्रीगुरुदेव में भी रहती है उस महात्मा पुरुष के सभी प्रयोजन स्वतः ही प्रकाशित होते हैं, सिद्ध होते हैं ।" "आचार्य में देवत्व-भाव रखो" "आचार्य की उपासना करनी चाहिये" इत्यादि श्रुति स्मृति के वचनों से यह सिद्ध होता है कि श्रीगुरुसेवा परायण साधक भगवद्भावापत्ति मोक्ष का भागी बन सकता है । इसके विपरीत जो केवल हरि की ही सेवाराधना करता है गुरु की सेवा नहीं करता, गुरुभक्ति से गिरे हुए उस दुर्बुद्धि की तो भगवान् नारायण भी उसी तरह रक्षा नहीं करते जैसे जल से बाहर कमल को भगवान् सूर्य विकसित (तुष्ट) नहीं करते बल्कि उसे सुखा देते हैं ।

श्रीविष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा ॥
यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥
एकाक्षरप्रदातारमाचार्य्यं यो ऽवमन्यते ।
श्वानयोनिशतं प्राप्य चाण्डालेष्वभिजायते ॥

इत्यादिना निन्दादेर्दर्शनात्--

एवंव्रतस्य श्रीगुर्वेकदेवताकस्य कृत्यन्तरं नास्ति गुर्वनुवृत्त्यैव कृतार्थः।

पापिष्ठः क्षत्रबन्धुश्च पुण्डरीकश्च पुण्यकृत् ।

आचार्य्यवत्तया मुक्तौ तस्मादाचार्य्यवान् भवेत् ।

इत्यादिबहूनि वाक्यान्यनुसन्धेयानीतिसङ्क्षेपः । रहस्यत्वान्नात्रविधानं वक्तव्यम् ॥७॥

इति श्री अध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां साधनतरङ्गश्चतुर्थः ॥४॥

जो साधक वैष्णव भगवान् श्रीविष्णु के प्रतिमाकार (विग्रह) में लोह बुद्धि अर्थात् धातु-पाषाण बुद्धि करता है और जो श्रीगुरुदेव में साधारण मनुष्य भाव करता है ये दोनों नरक गामी होते हैं । एक अक्षर का उपदेश देने वाला अर्थात् सामान्य रूप से कोई विद्याध्ययन करता है उसमें भी गुरुत्व भाव रखना चाहिये, कभी उनका अपमान नहीं करना चाहिए । यदि भव-बन्धन से मुक्त कराने वाली ब्रह्मविद्या का जो उपदेश करते है "सा विद्या या विमुक्तये" के अनुसार सच्ची विद्या वह है जो मोक्ष प्रदान कराती है" ऐसी उत्तम विद्या देने वाले गुरु-आचार्य की तो अवमानना की कभी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये । यदि कदाचित् मोहवश अपमान करता है वह मृत्यु पश्चात् सैंकड़ों कुत्ते की योनि भोगता है, जब मनुष्य जन्म मिलेगा तो चाण्डाल कुल में पैदा होता है । इत्यादि रूप में गुरु के अपमान करने वालों की घोर निन्दा की गई है ।

अतः श्रीगुरुदेव की हरिवत् आराधना करने वाले ब्रह्मनिष्ठ साधक के लिये अन्य कृत्यों की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि वह साधक गुर्वनुवृत्ति के द्वारा ही अपने आप को कृतकृत्य समझता है । चाहे कोई अत्यन्त पापी हो, क्षत्रियों में पतित हो, चाण्डाल हो फिर भी यदि गुरु शरणागति पूर्वक "आचार्यदेवोभव" का अनुसरण कर लिया तब वह आचार्यवान् पुरुष निश्चित ही मोक्ष का अधिकारी होगा । इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्रादि वचनों का अनुसन्धान करना चाहिये । यह विषय अति रहस्यमय होने से इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन समुचित नहीं है ।

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" हिन्दी व्याख्या में साधनतत्त्व निरूपणनामक चतुर्थ तरङ्ग पूर्ण हुआ ॥४॥

❊ अथ पञ्चमस्तरङ्गः ❊

अथोक्तसाधनानां सहकारिणो निरूप्यन्ते--

अब पूर्वोक्त कर्म ज्ञानादि मुख्य साधनों के सहकारी साधन बताते हैं ।

उक्तोपायकदम्बस्य भण्यन्ते सहकारिणः ।
श्रद्धाऽऽर्जवं च विश्वासः सतां सङ्गो विरागता ॥१॥

स्पष्टार्थः निर्देशमात्रत्वात् ॥१॥

कर्म-ज्ञान-भक्ति प्रपत्ति साधन समुदाय के सहकारी साधन बताते हैं । वे हैं--श्रद्धा, आर्जव, विश्वास, सत्संग और विरागता (वैराग्य) । पदार्थ मात्र का निर्देश होने से कारिका का अर्थ स्पष्ट है ॥१॥

उद्दिष्टान्पदार्थान् लक्षणप्रमाणाभ्यां निरूपयति--

आस्तिक्यं गुरुशास्त्रोक्तौ श्रद्धा प्रोक्ता महात्मभिः ।
मनोवाक्कायवृत्तीनामैक्यमार्जवमुच्यते ॥२॥

नाम मात्र से निर्दिष्ट पदार्थों का लक्षण और प्रमाण के माध्यम से निरूपण करते हैं--गुरु और शास्त्रों की उक्ति में आस्तिक्य भाव को महात्माओं ने श्रद्धा कहा है एवं मन वाणी और शरीर की वृत्तियों में एकरूपता को आर्जव कहा है ॥२॥

गुरुशास्त्रयोर्या उक्तिरुपदेशस्तस्यामास्तिक्यं यथोक्तम् एवमेवेति निश्चयः श्रद्धा महात्मभिः प्रोक्तेतिसम्बन्धः ।

एवमेव यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

इतिपार्थवचनात्--

तथा ऽऽम्नायते सर्वकृत्यस्य श्रद्धापूर्वकत्वं श्रद्धया देयं नाश्रद्धया देयं "श्रद्धयाऽग्निः समिध्यत" इत्यादि ।

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।

इतिस्मृतेश्च--

व्यतिरेकदोषश्च हरिवंशे श्रीवामनः ॥

अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रतमदक्षिणं यज्ञमनृत्विजा हुतम् ।

अश्रद्धया दत्तमसंस्कृतं हविर्भागा षडेते तव दैत्यसत्तमेति ॥

गीतं च ।

अश्रया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

इति ।

श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।

इत्यादि च ।

गुरुदेव का उपदेश और वेदादि शास्त्रों की जो उक्ति (वचन) है उसमें आस्तिक्य भाव अर्थात् जैसा कहा गया है वैसा ही है इस प्रकार दृढ़ निश्चय करना श्रद्धा कहा गया है । जैसा कि अर्जुन ने प्रभु से कहा--हे परमेश्वर आप अपने स्वरूप के विषय में जैसा कह रहे हैं वह यथार्थ है । समस्त कृत्यों को श्रद्धा पूर्वक ही सम्पादन करना चाहिए, श्रुति कहती है कि--श्रद्धा से दान देना चाहिए, अश्रद्धा से कभी भी नहीं देना चाहिए । क्योंकि श्रद्धा से ही अग्नि प्रदीप्त रहती है-इत्यादि । स्मृति में भी कहा है जो इस स्तोत्र का श्रद्धा भक्ति संवलित होकर अध्ययन करता है उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है ।

हरिवंश पुराण में भगवान् श्रीवामन प्रभु ने भक्तराज बलि से अश्रद्धा द्वारा किये गये कार्यों का विपरीत फल बताते हुए कहा--हे दैत्यराज ! जो व्यक्ति श्राद्ध में अश्रोत्रिय को अन्न-वस्त्रादि दान देता है, ब्रह्मचर्य व्रत पालन के विना वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करता है, दक्षिणा रहित यज्ञ करता है । जो यज्ञ विधि को जाने विना हवन करता है, श्रद्धा रहित होकर दान करता है और विना संस्कार किये हवनीय वस्तु प्रस्तुत करता है--इन छः कार्यों का फल सदा तुम्हें प्राप्त होगा कर्ता को नहीं । भगवद्गीता में भी प्रभु ने कहा-हे पार्थ ! अश्रद्धा से किया गया हवन, दान-तप और अन्य जो कुछ भी हो

वह "असत्" इस शब्द से कहा जाता है । उनका फल न तो इस लोक में मिलता है नहीं परलोक में ।

दानी पुरुष का दानादि कार्य श्रद्धा से पवित्र होता है किन्तु अश्रद्धा से किया हुआ अपवित्र और नष्ट होता है । इत्यादि शास्त्र वचनों से बड़ी महिमा व्यक्त होती है ।

आर्ज्जवलक्षणमाह मनोवाक्कायवृत्तीनामैक्यमार्ज्जवमिति यदेव वाचा कथनं तदेव मनसा सङ्कल्पनं कायेन करणं चार्ज्जवं न त्वितरेतरविरोधः वाचाऽन्यथा कथनं मनसा ऽन्यथा सङ्कल्पनं शरीरेणान्यथा चरणं चेत्यर्थः, अहिंसा क्षान्तिरार्ज्जवमिति भगवदुक्तेः ॥२॥

अब आर्जव का लक्षण बताते हैं--मन वाणी और शरीर की वृत्तियों का एक होना आर्जव कहलाता है । जिस विषय को मन से संकल्पित किया उसी को वाणी से व्यक्त करना और शरीर के अन्य अंगों से भी वही करना आर्जव है, न कि इनका परस्पर विरोध जैसे--वाणी से कुछ कहना मन से अन्यथा ही संकल्प करना, शरीर से अन्यथा आचरण करना आर्जव नहीं होता । नीतिकार कहते हैं--"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् । मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्" अर्थात् उदार चित्त वाले महात्माओं के मन, वचन, कर्म में एकरूपता होती है । किन्तु दूषित अन्तः-करणों वाले दुष्टात्माओं के मन में कुछ अन्य भाव रहता है । वाणी से कुछ और ही निकलता है, कार्य उससे विपरीत कुछ अन्य ही करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा--अहिंसा और क्षमा को आर्जव कहा जाता है ॥२

अथ विश्वासं लक्षणमुखेनाह द्वाभ्याम् ।

करिष्यत्येव मां कृष्ण आत्मसान्नात्र संशयः ।
मामेवैष्यसि सत्यं त इति गीतं स्ववक्त्रतः ॥३॥
सत्यप्रतिज्ञता तस्योद्घुष्यते भारतादिना ।
इति यो निश्चयो बुद्ध्या तं विश्वासं विदुर्बुधाः ॥४॥

अब दो कारिकाओं से लक्षण पूर्वक विश्वास का स्वरूप बताते हैं-- भगवान् श्रीकृष्ण मुझे आत्मसात् करेंगे ही इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

क्योंकि प्रभु ने स्वयं अपने मुखारविन्द से अर्जुन को विश्वास दिलाया है-- हे पार्थ ! तुम अपना मन मुझ में लगाओ, मेरी भक्ति या सेवा करो, मेरा भजन और नमन करो । मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने से तुम मेरे स्वरूप अर्थात् भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष को अवश्य प्राप्त हो जाओगे । महाभारतादि शास्त्रों में भी श्रीकृष्ण की सत्य प्रतिज्ञता बहुशः व्यक्त हुई है। इस प्रकार जो व्यक्ति शास्त्रानुशीलन पूर्वक पूर्वोक्त विषयों पर अपनी बुद्धि से निश्चय कर लेता है उसी को विद्वज्जन विश्वास कहते हैं ॥३,४॥

कृष्णो मामात्मसात्करिष्यत्येवेति बुद्धा यो निश्चयस्तं बुधा विश्वासं विदुरिति योजना अत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थोऽयमेवकारः रामो भवत्येवेति वत् तस्यैव विवरणं नात्र संशय इति अत्राऽस्मिन्नात्मसात्करणे संशयो नास्ति असंशयत्वे हेतुमाह मामेवैष्यसीति त्वं मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि ते तवाग्रे सत्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि यतस्त्वं मे मम प्रियोऽसि प्रियस्याग्रे अन्यथा भाषणं न भवति इतरथा प्रियत्वहानेः प्रतारणप्रसङ्गाच्चेति स्ववक्त्रत इति श्रीमुखेनैव गीतमिति हेतुगर्भितमिदं गीतत्वात्प्रतिज्ञातत्वादित्यर्थ ॥३॥

भगवान् श्रीकृष्ण मुझे अपनायेंगे ही इस बुद्धि से जो निश्चय होता है उसे विद्वज्जन विश्वास कहते हैं, यहां पर एवकार अत्यन्त अयोग काव्यवच्छेदक (परिहारक) है जैसे "रामो भवत्येव" इत्यादि वाक्यों मे राम है ही अर्थात् राम से भिन्न नहीं है यह अर्थ स्पष्ट रहता है । वैसा ही उक्त वाक्य में है । उसी का विवरण स्वरूप "नात्रसंशय इति" अर्थात् इस आत्म-सात्करण में कोई संशय नहीं है । असंशयत्व में हेतु बताते हैं--तुम मुझे ही प्राप्त होओगे, यह मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ । क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो प्रिय के आगे असत्य भाषण नहीं किया जा सकता । नहीं तो प्रियत्व में हानि का और प्रतारण का प्रसङ्ग आ जायेगा । यह बात प्रभु ने स्वयं अपने मुखारविन्द से व्यक्त की है । प्रभु की यह सत्य प्रतिज्ञा और सत्य कथन हेतु गर्भित है ॥३॥

ननु स्वतन्त्रत्वात्तस्य प्रतिज्ञाया अपि यदि न कुर्य्यात्तर्हि किं कार्य्य-मित्याशङ्क्याह सत्यप्रतिज्ञता तस्येति तस्य भगवतः सत्यप्रतिज्ञता भारतादिना

उद्घुष्यते डिण्डिमायत इति यावत् ।

तथा चाह वनपर्वणि स्वयमेव ।

पतेद्द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ।

शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ॥

इति ।

आदिना वाल्मीकीयेऽपि ।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।

तदवश्यं मया कार्य्यमृषीणां परिपालनम् ॥

अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाया ऽथ किं पुनः ।

इति ।

व्यतिरेके दोषगानात्

संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोको ऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

इति ॥४॥

कोई कहे कि वे तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं । प्रतिज्ञा करके भी उसे पूरा न करें तो कौन क्या कर सकता है । इस पर समाधान करते हुए कहते हैं उनकी प्रतिज्ञा सदा सत्य रहती है यह बात महाभारत आदि ग्रन्थों में डिन्डिमघोष के साथ कही गयी है ।

वनपर्व में स्वयं भगवान् द्रौपदी से कहते हैं--हे कृष्णे ! भले ही आकाश गिर जाय, हिमालय विदीर्ण हो जाय, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायें अगाध सागर सूख जाय किन्तु मेरा कहा हुआ वचन कभी मिथ्या (असत्य) नहीं हो सकता । वाल्मीकीय रामायण में भगवान् श्रीराम भगवती सीता से कहते हैं--हे सीते ! मैं अपने प्राण, लक्ष्मण सहित तुम्हें भी सहज में छोड़ सकता हूँ किन्तु किसी को वचन देकर विशेषतः ब्राह्मणों की रक्षा का आश्वासन देकर उसे त्याग नहीं सकता । इसीलिए विना प्रार्थना के ही एक तो मुझे ऋषि-मुनियों की रक्षा करनी चाहिए । उस पर भी हे वेदैहि ! उनके समक्ष रक्षा हेतु प्रतिज्ञा करके अब पीछे कैसे हट सकता । इत्यादि प्रतिज्ञा

पालन न करने पर दोष दिखाते हुए कहा संशयात्मा पुरुष विनाश को प्राप्त होता है ऐसे मनुष्यों को न तो इस पृथ्वी लोक में सुख-भोग मिलते हैं न ही स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है ॥४॥

अथ सतां लक्षणकथनपूर्वकं तत्सङ्गमाह--

ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिभूषणानां महात्मनाम् ।
सत्संप्रदायनिष्ठानां हंसमार्गानुगामिनाम् ॥५॥
रागद्वेषादिभिर्दोषैः पुत्रवित्तैषणादिभिः ।
अस्पृष्टचित्तवृत्तीनां नितरां कृष्णचेतसाम् ॥६॥
त्रिवर्गवासना दोषदूरीभूतधियां सताम् ।
प्रणिपातादिभिः सङ्गो नित्यं कार्य्यो मुमुक्षुभिः ॥७॥

अब सज्जनों के लक्षण कथन के साथ उनके संग का प्रसङ्ग कहते हैं--मुमुक्षुजनों को प्रणिपात पूर्वक सत्पुरुषों का नित्य सङ्ग करना चाहिए । उन सत्पुरुषों का स्वरूप क्या है इस जिज्ञासा पर कहते हैं--भक्ति ज्ञान वैराग्य आदि सद्गुण ही आभूषण हैं जिनके जो उदार बुद्धि वाले हैं जिन्होंने सनातन वैदिक सम्प्रदाय परम्परानुगत सद्गुरु से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की है जो हंस-सनकादि-नारद-निम्बार्कोपदिष्ट-सदाचार सिद्धान्तोपासनादि का सदा अनुसरण करते हैं, जिनके चित्त को राग-द्वेषादि दोषों और पुत्रवितैषणादि विकारों ने स्पर्श नहीं किया हो अर्थात् सांसारिक जनों के बीच रहते हुए भी उनमें अनासक्त हों, निरन्तर जिनका मन अपने आराध्य श्रीकृष्ण में लगा रहता है । जिनकी बुद्धि धर्म-अर्थ-काम के प्रति वासनामय रूप में प्रवृत्त नहीं है । ऐसे महात्मा पुरुषों को सज्जन कहते हैं, उनका सङ्ग यहां विधेय है-यह सामान्यतया कारिकाओं का अर्थ है ॥५-६-७॥

सतां सङ्गो मुमुक्षुभिर्नित्यं कार्य्य इत्यन्वयः तत्प्रकारमाह प्रणिपातादिभिरिति प्रणिपातः दैहिकप्रणामः आदिना परिप्रश्नसेवादिग्रहणं श्रद्धार्ज्जवविश्वासपुरःसरं मनोवाक्कायव्यापारैः इत्यर्थः भगवन् त्वच्चरणं मम शरणमित्युक्त्वा दीर्घं प्रणामः परिप्रश्नो नाम भगवन् कोहं मम संसारदुःखं कथं निवर्त्तेतेत्यादिप्रश्नपूर्वकं प्रार्थना सेवा च पादसंवाहनादिकायिकव्यापारः ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

इति श्रीमुखोक्तेः--

नित्यशब्दो ऽत्रावश्यकताद्योतनार्थः नित्यकर्मत्वेनेत्यर्थः सतां लक्षणमाह तद्विशेषणवर्णनमुखेन ज्ञानेत्यादिना ज्ञानं पूर्वोक्तलक्षणं वैराग्यं च वक्ष्यमाणं भक्तिरपि पूर्वोक्तरूपा ता आदिर्येषां ते ज्ञानादयस्ते एव भूषणभूता येषां न तु तैजसभूषणवस्त्रालङ्कारादयस्तेषाम् अत एव महात्मनां महानात्मा बुद्धिर्येषाम् उदारबुद्धीनामित्यर्थः सत्संप्रदायनिष्ठानामिति सत्संप्रदाये निष्ठा येषां तेषां तत्रापि विशेषमाह हंसमार्गानुवर्तिनामिति हंसस्य श्रीभगवदवतारस्य हंसानां शुद्धानां सनत्कुमारनारदादीनां वा मार्गो हि पद्धतिस्तस्यानुगामि-नस्तदाचारानुवर्तिनस्तेषाम् ॥५॥

सज्जनों का संग मोक्ष चाहने वाले को अवश्य करना चाहिए इस सम्बन्ध में उसका प्रकार कहते हैं--प्रणिपातादिभिरिति प्रणिपात का अर्थ है--शारीरिक प्रणाम । आदि शब्द से परिप्रश्न और सेवा लिया गया है, श्रद्धा आर्जव विश्वास पूर्वक मन-वाणी-शरीर के व्यापारों से हे भगवन् आपके चरण ही मेरी शरण हैं ऐसा कहकर साष्टांग प्रणाम को प्रणिपात कहा है । परिप्रश्न का तात्पर्य है--भगवन् मैं कौन हूँ मेरा सांसारिक दुःख कैसे निवृत्त होगा इत्यादि प्रश्न पूर्वक प्रार्थना करना परिप्रश्न है । पाद संवाहानादि कायिक व्यपार को सेवा कहते हैं । श्रीहरि ने गीता में कहा--मुमुक्षु साधक को ज्ञानी सत्पुरुषों के पास जाकर प्रणिपात परिप्रश्न और सेवा से उन्हें प्रसन्न कर उनसे उस परात्परतत्व का बोध करना चाहिए क्योंकि तत्व द्रष्टा ज्ञानी महात्मा पुरुष परम दयालु होते हैं अतः शरणागत शिष्य को अवश्य ही रहस्यमय तत्त्व ज्ञान का उपदेश करेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है । कारिका में जो नित्य शब्द है वह नित्यकर्मत्व के रूप से आवश्यकता द्योतित करने के लिए है। ज्ञान-वैराग्यादि विशेषणों के निर्देशन पूर्वक सज्जनों के लक्षण बताते है--चतुर्थ तरङ्ग के चतुर्थ-पञ्चम कारिकाओं में निर्दिष्ट ज्ञान तत्व इसी पञ्चम तरङ्ग के नवमे पद्य में बताया जाने वाला वैराग्य स्वरूप, चतुर्थ तरङ्ग के ही तृतीय पद्य में परिभाषित भक्ति तत्व इत्यादि भूषण है जिनके न

कि तैजसविविधरत्न, स्वर्णमय भूषण वस्त्रालङ्कारादि उन महाविभूति स्वरूप सज्जनों का सङ्ग करना चाहिए । ज्ञान-वैराग्यादि भूषण होने से ही उनकी आत्मा (बुद्धि) महान् (उदार) है अतः उन उदार बुद्धि वाले सत्पुरुषों का सत्सम्प्रदाय में निष्ठा है जिनकी उनमें भी हंस मार्गानुवर्ती अर्थात् भगवदवतार श्रीहंस नारायण के अथवा परम शुद्ध सनत्कुमार नारदादियों के मार्ग का अनुसरण करने वाले तदनुकूल आचरण करने वाले आचार्यों का सङ्ग करना चाहिए ॥५॥

किञ्च रागादिभिः पुत्रवित्तैषणादिभिश्च न स्पृष्टा बुद्धिवृत्तयो येषां तेषाम् ।

रागद्वेषवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥

इति श्रीभगवदुक्तेः--

किं प्रजया करिष्यामः येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् इत्यादि-श्रुतेः तत्र हेतुः कृष्णचेतसामिति नितरां कृष्णे एव चेतांसि येषां तेषाम् ।

सततं कीर्त्तयन्तो माम् ।
तेषां नित्याभियुक्तानाम् ।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
इतिगानात् ॥६॥

उन सत्पुरुषों के और भी लक्षण बताते हैं--रागादियों से और पुत्रैषणा वित्तैषणादि से भी अस्पृष्ट है बुद्धि वृत्तियां जिनकी उनका, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं--हे पार्थ ! राग-द्वेष आदि दोषों से रहित संयत चित्त वाले, जिन्होंने आत्मतत्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है उन यतीन्द्रों का ब्रह्म ज्ञान सदा स्थिर रहता है अतः उन्हें मोक्ष प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं होता है । पुत्रैषणा वित्तैषणा राहित्य के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण को उद्घृत करते हैं--"मैं उस सन्तान एवं धन से क्या करूँ जिससे अमर नहीं हो सकती या मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती" (वृहदारण्यकोपनिषद् में एक आख्यायिका है-महर्षि यज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करने की इच्छा से अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयी से कहा देवियों ! में संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ ।

अतः इस चल-अचल सम्पत्ति का बराबर विभाजन कर तुम दोनों को प्रदान करता हूँ । उसे ग्रहण करो । इस पर मैत्रेयी ने पूछा हम इस सम्पत्ति का क्या करें ? महर्षि ने कहा--जैसे दूसरे लोग सम्पदा का उपभोग करके सुखी रहते हैं वैसे तुम दोनों भी सुखी रहना । मैत्रेयी ने फिर प्रतिप्रश्न किया-स्वामिन् ! आप यह सब त्याग कर कहाँ जायेंगे और क्या करेंगे ? देवि ! मैं अमृतत्व (मोक्ष) प्रप्ति के लिए स्त्री-पुत्र-धन-सम्पदा का त्याग कर रहा हूँ । तो क्या इन सबके बीच रहने पर मोक्ष नहीं मिल सकता ? महर्षि ने कहा--पुत्र वित्तैषणा जब तक रहती है तब तक अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, अमृतत्व तो आत्मज्ञान से ही मिलता है । इसी कथन के प्रत्युत्तर में मैत्रेयी ने पूर्वोक्त वाक्य कहे हैं ।)

उपर्युक्त कथन में हेतु बताते हैं--कृष्ण चेतसाम्, अर्थात् निरवच्छिन्न रूप से सच्चिदानन्द परमात्मा श्रीकृष्ण में ही है चित्त जिनका उन भगवद् भक्ति निरत महात्माओं का सङ्ग मिल जाय तो जीवन आनन्दमय हो जाय । क्योंकि प्रभु कहते हैं--सत्पुरुष सतत मेरा ही गुण कीर्तन करते हैं, सतत मुझ में टिके रहते हैं, अन्य कोई भी विषय तथा वातावरण उनके व्यवहार में नहीं आता । अतः सन्तों का सङ्ग करना चाहिए ॥६॥

किञ्च त्रिवर्गवासनादोषाद्दूरीभूतधियामिति त्रिवर्गा अर्थधर्मकामास्तेषां वासना एव दोषस्तस्माद्दूरीभूता धीर्येषां तेषाम् ।

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ।
समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥

इत्यादिवाक्यान्यत्र अनुसन्धेयानि

तथा चोक्तं श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यपादैः भगवद्दिदृक्षातृणीकृतसर्वपुरुषार्थकत्वे सति भगवदाज्ञाविरुद्धाचारशून्यत्वं तन्नियोगाचारपरत्वे सति तद्भिन्नपुरुषार्थान्तरेच्छाकालुष्याभाववत्त्वं वा ।

तथाचोक्तं हयशीर्षीये नारायणव्यूहस्तवे-

न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर ।
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाऽभिकामये ॥

पुनस्तत्रैव ।

पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः ।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ।।
एतेन प्रणामादिविषया अपि तथाभूता एवेति द्योतयति ।
तथाच वैष्णवे प्रह्लादः ।
कृतकृत्यो ऽस्मि भगवन् वरेणा ऽनेन यत्त्वयि ।
भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।।
इति ।
एवम्भूतानां दर्शनादेव सर्वपुरुषार्थसिद्धिः किं पुनः भूयसा सङ्गेन ।
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रतिष्ठिता ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।।
दुर्लभा भगवद्योगभाविनो भुवि मानवाः ।
तद्दर्शनात्तदालापात् सुलभं शाश्वतं पदम् ।।
इत्यादिशास्त्रात् ।।७।।

और भी आगे बताते हैं--धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग सम्बन्धी वासना ही जो दोष है उससे दूर हो गयी है बुद्धि जिनकी उन सज्जनों का संग प्रार्थनीय है । उस महापुरुष के लिए धर्म-अर्थ-काम का क्या प्रयोजन उसके तो करतल में मुक्ति अवस्थित रहती है जिसकी समस्त जगत् के मूलभूत परमात्मा आप में भक्ति सुस्थिर है इत्यादि शास्त्रीय प्रमाण वाक्यों का इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करना चाहिए । रत्नमञ्जूषाकार श्रीमत्पुरुषोत्तमाचार्य-चरण कहते हैं--भगवद् दर्शन की तीव्र लालसा से संसार के समग्र पुरुषार्थों को तृणवत् समझते हुए भगवद् आज्ञा विपरीत आचरण से दूर रहता है भगवन्नियोगाचार परायण रहते हुए भगवदतिरिक्त किसी भी पुरुषार्थ की इच्छा रूप कलुषता का अभाव होना सत्स्वभाव है ।

हयशीर्ष प्रकरण के नारायण व्यूहस्तव में प्रह्लाद ने प्रभु से कहा--हे भगवन् ! हे वरदेश्वर ! मैं आपसे धर्म, काम, अर्थ एवं मोक्ष की भी कामना नहीं करता, मैं तो केवल आपके पादपद्मों की सेवा, दास्य के लिए प्रार्थना करता हूँ । उसी प्रकरण में नृसिंहदेव ने बार-बार वरदान देने की इच्छा से प्रह्लाद को प्रेरित किया, किन्तु जिसने प्रभु से मोक्ष तक नहीं मांगा,

भगवद् भक्ति का ही वर मांगा, उस भक्त शिरोमणि प्रह्लाद को मैं प्रणाम करता हूँ । इससे यह द्योतित होता है प्रणामादि विषय भी भक्ति या सत्संग रूप ही है । विष्णु पुराण में प्रह्लाद का यह कथन भी कितना मनोहारी है, हे भगवन् आपके द्वारा सानुग्रह भक्ति का वरदान दिये जाने से मैं कृतकृत्य हो गया हूँ । क्योंकि अब आपके चरणों में अनपायिनी भक्ति बनी रहेगी । ऐसे लोकोत्तर माहात्म्य वाले सद् भक्तों के दर्शन मात्र से ही सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं । उनके सङ्ग के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिनकी बुद्धि तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित एवं अनुभव पर्यन्त स्थिर रहती है उन सत्पुरुषों के दर्शन मात्र से इतर सामान्य जनों के समस्त कल्मष दूर होते हैं और वे भव बन्धन से मुक्त हो जाते हैं । भगवद् भक्तों का इस भूतल में सङ्ग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है जब सङ्ग मिल जाये तो उनके दर्शन व वार्तालाप से भगवान् के शाश्वत अव्ययपद प्राप्त होने में विलम्ब नहीं है इत्यादि शास्त्र प्रमाणों से सत्संग की विशेषता दर्शित हुई ॥७॥

दर्शनमात्रेण पापहारिसर्वपुरुषार्थदातृत्वे च हेतुमाह--

सन्तों का दर्शन मात्र से पापों को हरण करने और सर्वविध पुरुषार्थ देने में हेतु प्रदर्शित करते हैं ।

नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् भक्तवत्सलः ।
गौर्वत्समिव तेषां वै सान्निध्यं न जहाति हि ॥८॥

उन सन्तों के हृदय में भक्तवत्सल भगवान् नित्य संनिहित रहते हैं । जैसे नव प्रसूता गौ अपने बछड़े को छोड़कर क्षणमात्र भी अलग नहीं रह सकती, उसी प्रकार भक्तवत्सल प्रभु अपने अनन्य भक्तों का सान्निध्य कभी नहीं छोड़ सकते । यह दृढ़ निश्चय है । यह सामान्य कारिकार्थ हुआ सोदाहरण व्याख्या का तात्पर्य इस प्रकार है--

हि यस्माद्भगवान् तत्र तेषु नित्यं संनिहितः क्षणादिपरिमाण काला-वच्छेदशून्यतया तद्विरहमसहिष्णुस्तत्राऽऽस्ते तत्प्रेमरशनया निबद्धचरणत्वात्

सन्धिं च यागं सन्धत्ते ब्रह्मणे ईशो रमते तस्मिन्नु जीर्ण शयाने नैनं जहात्यहस्सु पूर्वेष्वितितैत्तिरीयाम्नायात् ।

प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
न त्यजेयं कथंचन ।
नारायणेति यस्यास्ये वर्तते नाम मङ्गलम् ।
नारायणस्तमन्वास्ते वत्सं गौरिव वत्सला ॥
इत्यादिस्मृतेश्च ।

एतच्छास्त्रार्थं हृदि निधाथोक्तं गौरिवेत्यादि स्पष्टार्थः डिण्डिमायते च सत्सङ्गमाहात्म्यं शास्त्रमुखैः ।

सम्भाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा ।
पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुमः ॥
सेव्याःश्रेयोर्थिभिः सन्तः पुण्यतीर्थफलोपमाः ।
क्षणोपासनयोगो ऽपि न तेषां निष्फलो भवेत् ॥
साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ॥
इत्यादिभिः ।

क्योंकि भगवान् उन प्रेमी भक्तों के निर्मल मानस में सदा निवास करते हैं । क्षण-लवादि परिमाण मात्र काल का भी व्यवधान उनके सह्य नहीं होता । उन भक्तों के प्रेम पाश से प्रभु के चरण बंधे रहते हैं । अतः नित्य योग बना हुआ है । तैत्तरीय श्रुति कहती है-- परमात्मा उन परमहंसों के साथ क्रीड़ा करते हैं. भोजन के समय भोजन, शयन के समय शयन करते हैं। छायावत् उनको कभी नहीं छोड़ते, दिन में, रात में सदा साथ विद्यमान रहते हैं । अतः उन सत्पुरुषों का न तो कोई अनिष्ट कर सकता है न नियमन। वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं ।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं--हे अर्जुन ! ज्ञानी भक्त के लिए मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरे लिए अत्यधिक प्रिय है । अतः उस प्रिय भक्त को मैं कभी हनीं छोड़ सकता । अन्यत्र स्मृति में कहा है--जिसके मुख में "नारायण" यह नाम रहता है उसका सदा मङ्गल होता है । उस नाम प्रेमी

भक्त के पीछे प्रभु उसी प्रकार फिरते हैं जिस प्रकार पुत्र-वत्सला गौ बछड़े के पीछे अनुगमन करती है । इन्हीं शास्त्रों के तात्पर्य हृदय में धारण कर मूल में "गौरिव" इत्यादि वाक्य उदाहरण रूप में प्रयुक्त हुआ है । साथ ही शास्त्रों ने सत्संग की महिमा का डिन्डिमघोष किया है । शास्त्र वचनों का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं--साधु जनों के साथ सम्भाषण उनके दर्शन उनका अङ्ग स्पर्श गुण कीर्तन स्मरण इत्यादि अत्यन्त पावन हैं ऐसा हम सुनते हैं अतः कल्याण चाहने वालों को पुण्यतीर्थों के सेवन तुल्य फलप्रदान करने वाले सन्तों की मन-वचन-शरीर से सेवा करनी चाहिए । एक क्षणमात्र भी उनका सान्निध्य योग मिल जाये तो जीवन सफल बन जाता है । साधुओं का दर्शन पुण्यदायक है क्योंकि सज्जन तीर्थ रूप होते हैं तीर्थ फल तो कालान्तर में प्राप्त होता है किन्तु साधु समागम तत्काल फल देता है इत्यादि वाक्य सत्संग के महत्व को दर्शाते हैं ।

उक्तलक्षणसाधवो भगवतोऽप्याधिक्येन सेवनीया इति स्वयमेवोक्तं भगवता ।

मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत् ।
तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥
इति ।
तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् ।
प्रसादसुमुखो विष्णुः स्वेनैव स्यान्न संशयः ॥
सिद्धिर्भवति वा नेति संशयो ऽच्युतसेविनाम् ।
न संशयस्तु तद्भक्तपरिचर्य्यारतात्मनाम् ॥
केवलं भगवत्पादसेवया विमलं मनः ।
न जायते तथा नित्यं तद्भक्तचरणार्च्चनात् ॥
इत्यादिस्मृतिभ्यः ॥८॥

उपर्युक्त लक्षण सम्पन्न साधु जन तो भगवान् से अधिक समादर के साथ सेवनीय हैं । प्रभु स्वयं संकेत करते हैं । जो मेरी उपासना करते हैं मैं उनसे उतना प्रसन्न नहीं रहता जितना मेरे प्यारे भक्तों की उपासना सेवा करते

हैं । अतः विशेष रूप से मेरे भक्त या उनके भी भक्तों की आराधना करनी चाहिए । एतावता श्रीहरि को प्रसन्न करने के लिए वैष्णवों को प्रसन्न करना चाहिए । अपने भक्तों की सेवा से भक्तवत्सल प्रभु सदा प्रसन्न रहते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है । अच्युत सेवा सिद्ध हो या न हो कि न्तु उनके भक्तों की परिचर्या कभी निषफल नहीं होती केवल भगवान् के स्मरण समाराधन से मन उतना निर्मल नहीं हो सकता जितना सद्भक्तों की चरण सेवा से निर्मल होता है इत्यादि स्मृति वचन सन्त-सेवा के महत्व को दर्शाते हैं ॥८॥

अथ वैराग्यं निरूपयति--अब वैराग्य का निरूपण करते हैं ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमित्युक्तं हरिणा स्वयम् ।
भूयो ऽभ्यसेत्तदेवा ऽसौ भीतः संसारचक्रतः ॥९॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्रियों को विषयों से वैराग्य होने की जो बात कही है उस सम्बन्ध में मुमुक्षु साधक को जो संसार चक्र से भयभीत हो बारम्बार विचार व अभ्यास करना चाहिए ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।

इति त्रयोदशाध्याये हरिणा श्रीभगवता पुरुषोत्तमेन स्वयमेवोक्तं तदेवा ऽसौ मुमुक्षुः भूयो ऽभ्यसेदित्यन्वयः इन्द्रियाणामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तेषु वैराग्यं तद्विषयकरागशून्यत्वं तत्रात्मस्तुतिलक्षणेषु षड्जादिषु गीतेषु च शब्देषु सर्वेषां स्वभावतो रागो निन्दात्मकेषु च तेषु स्वभावत एव द्वेष तथैव क्षौमवस्त्रादिस्पर्शेषु च स्वभावतो रागः, कम्बलादिवस्त्रस्पर्शेषु चाण्डालादिकुक्कुरादिस्पर्शेषु शस्त्रादिस्पर्शेषु च नैसिर्गिको द्वेषः, सौन्दर्य्यलावण्यादिमद्रूपेषु रागो, व्याघ्रपिशाचादिरूपे च द्वेषः, मधुरादिरसे रागः कट्वादिरसे द्वेषः पद्मकुसुमादिगन्धे रागः पुरीषादिगन्धे च द्वेष इति सर्वेषां देवतिर्य्यङ्मनुष्यादीनां क्षेत्रज्ञानां स्वाभाविकी बुद्धिः, तत्र मुमुक्षुभिर्विचारणीयम् उभयविधानामपि शब्दादिविषयाणां प्राकृतत्वेन संसरणहेतुत्वसाम्यात् केन वा हेतुना तत्राऽभिनिवेशः कार्य्यः, सज्जनैः स्तूयमाने सति विवेचनीयः, एषा स्तुतिरात्मविषयिका देहजातिगुणादिविषयिका वा नाद्यः आत्मनः सदैकरसत्वेन स्तवनादिभिरस्पृष्टत्वात् नापि द्वितीयः देहादीनां प्राकृतत्वेन तद्विषयत्वासम्भवात् प्रत्युत

तद्विपरीतदर्शनात् नश्वराश्च, किन्तु साधूनां स्वभाव एव तद्धेतुर्विषयश्चेति तस्मादविवेकिनां देहादावात्माभिमानिनां वृथैव तत्रोल्लासः निन्दाश्रूयमाणेपि शब्दे तथैव आत्मनस्तद्विषयत्वाभावात् देहादीनां च संसारहेतुत्वेन निन्द्य-त्वादिति, किन्तु खलानां प्रकृतिरेव तद्धेतुर्विषयश्च स्वप्रारब्धकर्मणश्च तत्र निमित्तत्वं तस्मात्तत्राभिनिवेशो मौढ्यादेवेतिविवेकः, तथैव स्पर्शदीनामपि विवेको बोध्यः ।

"इद्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ॥ जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानु दर्शनं" इस प्रकार गीता के १३ वें अध्याय में लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो बात कही है उसी का मुमुक्षु साधक को निरन्तर अभ्यास करना चाहिए । श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण आदि इन्द्रियों का अर्थों अर्थात् शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषयों में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति या अनुराग है तद्विषय राग शून्य होना वैराग्य कहलाता है । जैसा कि उनमें आत्म स्तुति सम्बन्धी शब्दों में और षड्जादि स्वर युक्त संगीतात्मक शब्दों में सभी का स्वाभाविक अनुराग होता है । निन्दापरक अपशब्दों में स्वाभाविक द्वेष उत्पन्न होता है । उसी प्रकार रेशमी वस्त्रादि कोमल वस्तुओं व अपने प्रियजनों के स्पर्श में स्वाभाविक अनुराग होता है। और कम्बलादि वस्त्र, कन्टकादि वस्तुओं में, चाण्डालादि मनुष्यों, सूकर, कूकरादि पशुओं, शस्त्र आदि हथीयारों के स्पर्श में स्वाभाविक द्वेष होता है । सौन्दर्य लावण्य युक्त रूपवान् पदार्थों में राग, व्याघ्र, पिशाचादि भयानक, विभत्सादि पदार्थों में द्वेष, मधुरादी रस में राग, कटूवादी रसों में द्वेष, कम-लादिपुष्पों के सौरभ में प्रीति, मल-मूत्रादि तथा सड़े-गले पदार्थों के दुर्गन्ध में अप्रीति या द्वेष इत्यादि देवतिर्यङ् मनुष्यादि सभी जीवों की स्वाभाविकी समान बुद्धि रहती है । इस विषय में मुमुक्षु जनों को विचार करना चाहिए कि उपर्युक्त उभयविध विषयों का प्राकृतत्व होने से संसरण हेतु समान ही है । अब किस हेतु उसमें प्रवृति या अभिनिवेश किया जाय ? यह विवेचन का विषय है कि सज्जनों द्वारा स्तुति किये जाने पर यह स्तुति आत्मा के लिए है ? या देह जाति गुण आदि के लिए है ? पहला पक्ष तो इसलिए नहीं बनता कि आत्मा अविकृत सदा एक रस है । उसका स्तवनादि से कोई सम्बन्ध

नहीं, दूसरा पक्ष इसलिए सिद्ध नहीं होता देह जाति गुण आदि प्राकृत होने से स्तवन के विषय नहीं हो सकते बल्कि उनकी नश्वरता होने से निन्दनीयता दीखती है । तो फिर सज्जन लोग किसी की प्रशंसा क्यों करते हैं । तो यह उनका स्वभाव ही है कि अविवेकी देहात्मवादियों की प्रसन्नता के लिए उनकी स्तुति कर देते हैं । यदि कोई साधारण व्यक्ति साधुओं कि स्तुति या निन्दा करता है तो वे उन स्तुति निन्दा-वचनों को न तो आत्म विषयक मानकर प्रसन्नचित्त होते हैं नहीं विनश्वर देहादि विषय समझकर उल्लसित या उदास होते हैं । क्योंकि आत्मा की नित्यता और देहादि की नश्वरता वे पूर्णरूप से समझते हैं । किन्तु दुर्जनों का स्वभाव है कि स्तुति-निन्दा को देहात्म विषय मान कर मूढतावश उनमें अभिनिवेश रहता है । इसी प्रकार स्पर्शादियों का भी समझना चाहिए ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।
इति भगवदुक्तेः ।

देहादिनिर्वाहस्तु भगवत्प्रेरितप्रारब्धवशाद्भवत्येव, रोगिणामौषध-भक्षणादिवत् मुमुक्षूणामन्नपानादिकं सेव्यं न तु रागादिभावनया ।

तथोक्तं स्मृतौ ।
शरीरं व्रणवत्पश्येदन्नं च व्रणलेपवत् ।
व्रणशोधनवत्पानं वस्त्रं च व्रणपट्टवत् ॥ इति ।
अस्या ऽर्थः ।

शरीरं व्रणवत्पश्येदिति ब्रह्मात्मकस्य सच्चिदानन्दात्मनो मम केनाप्य-नादिभगवत्पराङ्मुखतानिमित्तकानादिकर्मात्मिकाविद्याप्रयुक्तप्रकृतिसम्बन्ध-हेतुना शरीरलक्षणो व्रणरूपो रोगो जातः अनेकच्छिद्रवत्त्वाच्छतच्छिद्रवत्त्वा-च्छतच्छिद्रप्राणहारिव्रणोपमा ज्ञेया व्रणादिसर्वरोगभूमित्वाद्वा तथात्वं स च स्वकर्मनिर्मितत्वादवश्यं भोक्तव्यः ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
ना ऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥
इति शास्त्रात् ।

भगवान् कहते हैं--हे पार्थ ! आंख-कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का और वाक् पाणि आदि कर्मेन्द्रियों का अपने आप से शब्दादि विषयों और वचन ग्रहणादि कर्मों में राग द्वेष स्वभाव से ही सिद्ध है । क्योंकि अपने अनुकूल कोमल मीठे आदि वस्तुओं में राग प्रेम तथा अपने प्रतिकूल कठिन, कटु आदि वस्तुओं से द्वेष व क्रोध स्वभावतः अपनी प्राचीन वासना के अनुसार सबको होता है । गुरु व शास्त्रों का उपदेश है कि इन राग-द्वेषों के वश में साधक मनुष्य को नहीं होना चाहिए । क्योंकि ये राग द्वेष सर्वस्व हरण करने वाले चोर के समान मुमुक्षु पथिक को भ्रष्ट कर ज्ञान, भक्ति रूप मोक्ष के मार्ग से गिराते हैं और विषय प्राप्ति साधन रूप सर्वस्व का हरण करते हैं । जिसे राजपुरुष (पुलिस) मार्ग चलने वाले को चोर के वश में देख उसको उस रास्ते से हटाकर अलग रास्ता बताते हैं । उसी प्रकार शास्त्र और आचार्य का उपदेश राग और द्वेष के वश में होते हुए मोक्षार्थियों को उससे हटाकर मोक्ष-साधन रूप परमेश्वर की आराधना के मार्ग में लगाते हैं । अतः गुरु और शास्त्र का उपदेश व्यर्थ नहीं है ।

शरीरादि का निर्वाह तो भगवत्प्रेरित प्रारब्ध कर्म के वश से होता ही है । रोगियों के लिए औषधिभक्षण रोग निवृत्ति के लिए होता है अनिच्छयापि उन्हें ग्रहण करना पड़ता है उसी प्रकार मुमुक्षुओं को देह धारण हेतु ही अन्नपानादि का सेवन करना चाहिए न कि राग से उसमें आसक्त होकर । यही बात स्मृति में कहीं गयी है--शरीर घाव की तरह समझे और अन्नपानादि उसका लेपन, प्रक्षालन और वस्त्र धारण घाव की पट्टी के समान समझे । व्याख्याकार ने इस प्रसङ्ग को और भी विस्तार से वर्णन किया है--"शरीरं व्रणवत्पश्येत् इति" अर्थात् मुमुक्षु साधक सद्गुरु की कृपा से भगवत्शरणापन्न होकर विचार करे कि ब्रह्मात्मक सच्चिदानन्द स्वरूप मेरे लिए किसी अनादि हेतु भगवत्पराङ्मुख बनाने वाले अनादिकर्मात्मिका अविद्या रूप माया प्रयुक्त प्रकृति सम्बन्ध के कारण शरीर लक्षण व्रणरुपी रोग उत्पन्न हो गया है । अनेक छिद्र वाला यह शरीर उस शतमुखी घाव के समान है जो प्राणहरण करने वाला होता है । अतः स्वकर्म निर्मित उस व्रण जन्य पीड़ा को भोगना ही पड़ता है । शास्त्र बतलाते हैं--अपने किये हुए शुभाऽशुभ कर्मों के फल

अवश्य भोगने पड़ते हैं। वे इतने बद्धमूल रहते हैं कि करोड़ों कल्प तक भी भोग किये विना क्षीण नहीं होते।

तस्यौषधमाह अन्नं च ब्रणलेपवदिति यथा कस्यचिद् व्रणस्य मिष्टमेव लेपनं कस्यचित् क्षारमेव कस्यचित् कट्वम्लादि वा लेपनं चिकित्साशास्त्रोक्तं तत्तत्त्वविद्भिस्तत्तद्रोगानुसारेण भिन्नं भिन्नं निर्मीयते न हि केषाञ्चिदप्यावाल-पण्डितानां मध्ये मदीयव्रणस्य मिष्टलेपनत्वादहोभाग्यमिति रागो भूयांस्तत्प्राप्तौ वा जायते तथा भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यादिकं माधुर्यस्नेहादिबहुरस्यमपि देहधारणहेतुमात्रत्वात् व्रणलेपवत्पश्येदिति सर्वत्र योजना यथा प्रारब्धं प्रारब्धप्राप्तत्वान्नरागादिविषय इत्यर्थः तथैव तद्विपर्य्यये न कोपि दोषविषय इति विवेचनीय इतिभावः किञ्च व्रणशोधनवत्पानमिति यथा कस्यचिद् व्रणस्य शोधनार्थं शीतलतमं गन्धादिमच्च जलं कस्यचिदौष्ण्यक्षारादिमत् कस्य-चिन्निम्बक्काथादिकटुतरमेव न कोपि रागादिहेतुत्वेन पश्यति न तत्र माधुर्यादि-गुणभावनया च सज्जते मुमुक्षुरपि तथैव रागादिकं न कुर्य्यादितिभावः, आच्छादनमाह वस्त्रं च व्रणपट्टवदिति मृदुस्पर्शकं वा कठोरस्पर्शकं वा वस्त्रं यथा प्रारब्धगतं देहादिनिर्वाहाया ऽलमेव आच्छादनकारणत्वाविशेषात् व्रणपट्ट-दृष्टान्तः तथाभूतस्य न रागादिहेतुत्वमित्यर्थः एवमात्मौपम्येनैव सर्वेषामपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानां शरीरतद्भोग्यपानवस्त्रैश्वर्य्यादि पश्यतो मुमुक्षोः स्वत एव स्वपरशरीरभोग्यभोगोपकरणतत्स्थानेषु शब्दादिविषयेषु च रागादिनिवृत्तिः स्यादेवेतिभावः किञ्च सर्वेषामपि स्वरूपकरणकर्मादीनां परायत्तसाम्यविचारादपि रागादिकं निवर्त्तते।

पूर्व में शरीर को व्रणजन्य रोग के समान बताया अब यहां उसके लिए औषधि उपचार बताते हैं--"अन्नं च व्रण लेपवत्" अर्थात् जिस प्रकार किसी घाव का लेपन मीठा, किसी का क्षार और किसी का कड़वा, खट्टा आदि लेपन चिकित्सा विज्ञान के ज्ञाता चिकित्सक शास्त्रोक्त विधि से तत्-तत् रोगानुसार भिन्न-भिन्न निर्माण कराते हैं। उस विधि में किसी मूर्ख व विद्वान् को यह भान नहीं होता कि मेरे घाव में मीठा लेप किया मेरे अहो भाग्य है, ऐसे लेप की पुनः प्राप्ति हो ऐसा अनुराग भी नहीं होता उसी प्रकार

मुमुक्षु साधक को भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यादि चतुर्विध माधुर्य स्निग्धादि पदार्थों को देह धारण साधन मात्र होने से व्रण लेप के समान समझना चाहिए । जैसे प्रारब्ध वश प्राप्त होने के कारण कोई वस्तु रागादिका विषय नहीं हो सकती उसी प्रकार उसके विपरीत अप्राप्त वस्तु के लिए शोक भी नहीं किया जाता।

और भी कहते हैं--"व्रणशोधनवत्पानम् इति" अर्थात् जैसे किसी घाव को धोने के लिए शीतल सुगन्ध जल का प्रयोग होता है किसी के लिए लवणयुक्त उष्णोदक और किसी के लिए नीम पत्तों का क्वाथ प्रयोग में लिया जाता है इनमें कोई भी रागादि से नहीं देखता है, माधुर्यादि गुणों की भावना से कोई भी उसमें आसक्त नहीं होता उसी प्रकार मुमुक्षु को भी पेय पदार्थों के प्रति उपेक्षा भाव रखना चाहिए ।

आच्छादन के विषय में कहते हैं--"वस्त्रं च व्रणपटवत्" कोमल स्पर्श वाला या कठोर स्पर्श वाला वस्त्र हो जैसा प्रारब्ध से प्राप्त हुआ हो देहावरण निर्वाह के लिए पर्याप्त होता ही है क्योंकि आच्छादन कारण की सामान्यतया से घाव की पट्टी का दृष्टान्त प्रस्तुत किया । जिस प्रकार अन्य आघात व अपद्रव्य से बचाने के लिए घाव में पट्टी बांधी जाती है उसी प्रकार तीव्र शीतोष्णवातवर्षादि के आघात से बचने हेतु शरीर में वस्त्र धारण किया जाता है ऐसा भाव रखने से मुमुक्षु को वस्त्रादि के प्रति राग नहीं होगा। इसी प्रकार अपने समान समस्त ब्रह्मादि स्थावरान्त शरीर धारियों के देह भोग्य अन्न-पान-वस्त्र-ऐश्वर्यादि को देखते हुए मुमुक्षु साधक का मन स्व पर शरीर के भोग्य भोगोपकरणों में और शब्दस्पर्शादि विषयों में अनासक्त हो जाता है, उसकी स्वतः ही राग निवृत्ति हो जाती है । तथा सभी के स्वरूप करण कर्मादियों की पराधीनता रूप समानता होने से भी रागादि की निवृत्ति होती है ।

तथोक्तम् ।
आत्मौपभ्येन सर्वत्र समं पश्यति यो ऽर्ज्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
इति ।

यथा मम स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिः परमेश्वरायत्ता सुखदुःखादि चापि ईश्वरायत्तप्रारब्धलभ्यं तथाऽन्येषामपि लोकदृष्ट्या मम सुखदुःखादिहेतुत्वेपि वस्तुतस्तु तेषामपि पारतन्त्र्यसाम्यान्न हेतुत्वं सम्भवति तथात्वे च रागादि-विषयाऽऽश्रयाद्यसिंद्धिः किमर्थं तत्राऽभिनिवेशः कार्य्य इतिभावः, किञ्च व्रणे क्षतादिजातेषु सत्सु तद्वन्तो रोगिणो हृष्यन्ति रोगावसानानुमानात् तथा शरीरे रुग्णे आसन्नमरणे ऽपि मनीषिणो मुमुक्षवो हृष्यन्ति भवरोगावसानानुमा-नात् ।

प्रायशः पापकारित्वात् मृत्योरुद्विजते जनः ।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ।
इतिवचनादलं विस्तरेण ।

नन्वेवम्भूतं परं वैराग्यं कथमुत्पद्येत तस्य दुष्करत्वात् विषयासक्तेः प्रावल्याच्चेति चेन्न विषये दोषदर्शनादिना ह्युत्पद्यते एवेतिब्रूमः ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।
इतिश्रेयउपायतयोक्तं श्रीमुखेन ॥

न च तेषु दोषदृष्टिरेव कथं जायते रागविषयत्वादितिवाच्यं तज्जन्य-दुःखभोक्तव्यताविचारेण दोषदृष्टिः संपत्स्यते ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
इति श्रीमुखोक्तेः ।

उसी का निर्देशन स्वयं प्रभु करते हैं--हे अर्जुन ! जो अपने समान सब प्राणियों में दुःख या सुख को बराबर ही समझता है, अर्थात् जैसे कोई अपने दुःख नहीं चाहता, न उत्पन्न करता वैसे ही दूसरों को भी दुःख देना नहीं चाहता न पैदा करता है, क्योंकि वह राग द्वेष से रहित होता है, वह आत्मा को जानने वाला योगी परम श्रेष्ठ माना जाता है । ऐसा परम श्रेष्ठ पुरुष सोचता है जैसे-मेरी स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति परमेश्वर के अधीन है, सुख-दुःखादि भी ईश्वराधीन प्रारब्ध से प्राप्त होते हैं वैसे औरों के भी समान हैं । लोक दृष्टि से अन्य लोग मेरे सुख-दुःख के हेतु रूप होने पर भी वस्तुतः उनकी भी परतन्त्रता तुल्य है अतः वे हेतु नहीं हो सकते । जब ऐसी स्थिति

है तो रागादि विषयों के आश्रयों की असिद्धि गगनारविन्द की तरह है । तब उनमें अभिनिवेश क्यों कर किया जावे । और भी बताते हैं--व्रण (घाव) में अधिक क्षत विक्षतता आ जाने पर भीषण घाव वाले रोगी और अधिक प्रसन्न होते हैं क्योंकि अब उनके रोग का अन्त होने वाला है । ज्ञानी मुमुक्षु सज्जन पुरुष शरीर के रुग्ण होने पर या मरणासन्न होने पर भी प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि अब उनका जन्ममरणरूपी महारोग नष्ट होने वाला है । प्रायः पापी लोग अपने पाप कर्म के कारण मरणासन्न वेला में उद्विग्न दिखाई देते हैं । किन्तु पुण्यात्मा लोग कृतकृत्य भाव से प्रिय अतिथि की तरह मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं । शंका करते हैं, इस प्रकार का परम वैराग्य कैसे उत्पन्न होगा, क्योंकि विषयासक्ति की प्रबलता से उसका होना अत्यन्त दुष्कर है । समाधान करते हैं, विषयों के प्रति दोष दर्शन हो जाने से वैराग्य उत्पन्न होगा ही ऐसा विश्वास करते हैं । क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं--जीवन में जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख आदि दोषों के अनुपद दर्शन होने से विवेकी को वैराग्य सहज में प्राप्त हो सकता है ।

फिर भी रागादि की दृढ़ता होने से उन विषयों में दोष दृष्टि ही कैसे बन पायेगी । ऐसा भी नहीं कह सकते उन विषयों से उत्पन्न होने वाले दुःखों की अवश्य भोक्तव्यता के विचार से दोष दृष्टि उत्पन्न हो जावेगी । भगवान् श्रीहरि कहते हैं--

हे अर्जुन ! जो विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न भोग हैं चाहे वो इस लोक के हों चाहे पर लोक के हों सभी अन्त में दुःख पैदा करने वाले हैं तथा आरम्भ और अन्त वाले भी हैं, स्थिर नहीं है अतः विवेकी विद्वान् उनमें प्रीति नहीं करते ।

एतदुक्तं भवति दुःखं तावद्द्विविधं तापात्मकम् अवस्थोद्भवं चेति तत्राऽद्यं त्रिविधम् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदात् तत्राद्यं द्विविधं शारीरकमानसभेदात् तत्र शिरःपीडाज्वरातीसारादिकं शारीरं कामक्रोधद्वेष-लोभमोहशोकाश्रुपातमानेर्ष्यादिजं मानसं शीतोष्णवातवर्षाजलविद्युदादि-समुद्भवं द्वितीयं मृगपक्षिमनुष्यराक्षससर्पादिजातं तृतीयमितिविवेकः । अथ

गर्भाद्यवस्थोद्भवं द्वितीयं तच्चानेकविधं प्रथमं पितृमूत्रद्वारा निःसृत्य मातृयोनि-प्रवेशः ततो गर्भे ऽनुदिनं कललबुद्बुदपिण्डकाठिन्याद्यवस्थावत्तिः ततः क्रमेणाऽवयवेन्द्रियादियोगस्ततश्चेतनीभावस्ततः स्वकर्मानुरूपस्त्रीपुरुषषण्ड-भावापत्तिरर्वाक्शिरा ऊद्र्ध्वपाञ्जरायुवेष्टितश्च भूत्वा मलमूत्रागारे कृमिभिः तत्रत्यैः सह वासः प्रसवसमये योनिद्वारं प्राप्य यन्त्रेण पीड्यमान इव मूर्छितः पूतिव्रणात्कृमेरिव महता दुःखेन मह्यां यातः ततश्च कौमार्य्यादिजरापर्य्यन्ता-वस्थोद्भवं दुःखसङ्घातमनुभूय मरणं तत्र धर्मात्मा चेत्स्वर्गं गत्वा स्वपुण्यार्जित विषयसुखं पापार्जितं मात्सर्य्यादिजन्यदुःखं चानुभूय धूममार्गेण पुनरावृत्य व्रीह्यादिभावापन्नः सन् पेषणकण्डनपाचनभक्षणाद्यवस्थोद्भवं क्लेशमनुभूय भूयो रेतोभावापत्तिः पूर्वोक्तप्रकारेण योनिप्रवेशगर्भवासादिदुःखानुभव एतदेव संसारचक्रभ्रमणं शास्त्रेणोच्यते । "मृत्युं पुनर्मृत्युमापद्यत" इतिश्रुतिभिः दुष्कर्मणश्च नरकादिप्राप्तिः यमदण्डादिभोगः श्वशूकरसर्पादिदेहप्रवेशस्ततस्त-द्देहजन्यदुःखाद्यनुभूतिश्च श्रुत्यन्तकल्पवल्यां विस्तरशः प्रोक्तं तत्र किञ्चि-ज्जन्मादि दुःखमनुमानगम्यं तथा हि मया जन्मशैशवादिदुःखमवश्यमनुभूतं कर्मपरतन्त्रत्वात् मम पुत्रादिवत् मम जरामरणादिदुःखमवश्यम्भावि कर्माधीन-त्वात् अस्मत्पितृपितामहादिवदित्यादिप्रयोगात् पौगण्डावस्थानुभूतं वयस्यैः सह क्रीडनादि यौवनोद्भवं परस्त्रीसम्बन्धादि तज्जन्यरोगं तत्कृततिरस्कारादि-तत्सम्बन्धिभ्यो राजादिभ्यश्च दण्डादिप्राप्तिः प्रत्यक्षानुभवस्मरणसिद्धमेव यमयातनादिकं च शास्त्रतो गम्यमितिविवेक इत्याशयेनाह भीतः संसारचक्रत इतिपञ्चम्यर्थे तस्प्रत्ययः चक्रादित्यर्थः ॥६॥

दुःख के सम्बन्ध में कहा जाता है कि सर्वप्रथम दुःख दो प्रकार का होता है--एक तापात्मक और दूसरा अवस्थोद्भव । उनमें पहला तापात्मक दुःख आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक के भेद से तीन प्रकार का होता है शारीरिक और मानसिक भेद से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है। उसमें शिरोवेदना, ज्वर, अतिसार, फोडा, घाव आदि शरीर में होने वाली पीड़ायें हैं और काम-क्रोध, लोभ, मोह द्वेष, मद, शोक, असूया (गुणों में दोष देखना) अपमान, ईर्ष्या, प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख सन्ताप मानस पीड़ाएँ हैं । इन्हीं की आधि-व्याधि संज्ञा भी

है । सर्दी, गर्मी, हवा, पानी, वर्षा, बाढ, बिजली, ओले, भूकम्प आदि से उत्पन्न सन्ताप को आधिदैविक संज्ञा दी गयी है और मृग, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, ऋक्ष, मनुष्य, राक्षस, सर्प, बिच्छु, कुत्ता आदि प्रणियों से होने वाला दुःख या सन्ताप आधिभौतिक कहलाता है । अब गर्भवास-जन्मादि अवस्थाओं से उत्पन्न दूसरा दुःख बताते हैं जो अनेक प्रकार का होता है । सर्वप्रथम पुरुष वीर्य से स्त्री गर्भ में प्रवेश, उसके बाद गर्भ में अनुदिन कलल, बुद-बुद, पिण्ड, काठिन्यादि अवस्थाओं की प्राप्ति, तदनन्तर शरीर के शिर-हस्त-पादादि अंगों का उद्भव, तब चेतन भाव को प्राप्त होना, फिर स्वकर्मा-नुरूप स्त्रीत्व-पुरुषत्व, नपुंसकत्व चिह्न प्राप्त कर नीचे शिर ऊपर पांव, जर से परिवेष्टित होता है । उस मल मूत्रागार में वहाँ समुत्पन्न कीड़ों के साथ नव मास तक सहवास रहता है, फिर प्रसवकाल में योनिद्वार को प्राप्त होकर यन्त्र (कोल्हू) के पाट से पीड़ित की तरह मूर्च्छापन्न दुर्गन्ध पूर्ण घाव से कीड़े की भाँति महान् दुःख के जमीन पर गिरता है । उसके पश्चात् शैशव, बाल्य, कौमार से वार्धक्य पर्यन्त नानाविध अवस्थाओं में प्राप्त दुःख संघात को भोग कर मृत्यु को प्राप्त होता है । शरीरोत्सर्ग की पीडाभी शत-वृश्चिकदंश के समान असह्य बतायी गयी है शास्त्रों में । मरणोपरान्त यदि जीव धर्मात्मा है तब तो स्वर्गादि दिव्य लोकों में जाकर अपने पुण्य से अर्जित सुख भोगों को आनन्दपूर्वक भोगता है यदि पापात्मा है तो पापार्जित कर्मों से नारकीय यातना और मात्सर्यादि जन्य दुःख का अनुभव करता है । पुण्यक्षीण होने पर धूम मार्ग से फिर भूतल में लौटकर व्रीहि आदि धान्य भाव प्राप्त होता हुआ वह जीव पेषण, कुट्टन, पाचन, भक्षण आदि अवस्थाओं से उत्पन्न क्लेश को भोग कर पुरुष के वीर्य भाव को प्राप्त करता है । पूर्वोक्त प्रकार से फिर वही गर्भवासादि दुःख प्राप्त होना अवस्थोद्भव पीड़ा का क्रम है ।

शास्त्रों में इसी को संसारचक्र भ्रमण कहा गया है । श्रुति कहती है- "मृत्यु से फिर मृत्यु को प्राप्त होता है ।" दुष्कर्म से नरक में विविध यातनायों की प्राप्ति होती है । वहाँ यमराज का दण्ड भोगकर इस लोक में सूकर, कूकर, सर्पादि योनियों में प्रवेश होता है और तत्-तत् शरीर से प्राप्त होने

वाले दुःखों की अनुभूति करनी पड़ती है। इस प्रसंग को श्रुत्यन्त कल्पवल्ली में अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है।

कुछ जन्मादि दुःख अनुमान से जाना जाता है। जैसा कि जन्म-शैशवादि दुःख मैंने अवश्य भोगे हैं, कर्माधीन होने के कारण मेरे पुत्रादियों की तरह। मेरे जरा मरण आदि दुःख भी अवश्य होंगे, कर्माधीन होने से हमारे पितृ--पितामहादियों की भांति, इत्यादि अनुमान प्रयोग से अनुमानगम्य है। कौमार-पौगण्डादि अवस्था को अपने समवयस्क मित्रों के साथ भोगा है और यौवनोन्माद से उत्पन्न पर स्त्री सम्पर्क एवं तज्जन्य रोग को स्वयं भोगा, तज्जन्य तिरस्कार भी उनके स्वजनों या राजशासन से दण्डादि की प्राप्ति हुई यह सब स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया, यम यातनादि दुःख शास्त्रों से गम्य है ही। अतः पूर्वोक्त प्रकार से संसार चक्र से भयभीत होकर विवेकी मुमुक्षुजन वैराग्य का आश्रय लेकर तत्त्वान्वेषण करे ॥९॥

अथाऽत्र प्रधानतममाह--
अब यहाँ पर साधनों में प्रधानतम साधन का वर्णन करते हैं।

सर्वे ऽपि किङ्करा यस्य ह्युपायाः कथिताः पुरा।
तं कृष्णानुग्रहं नित्यं तत्परः प्रार्थयेत् सदा ॥१०॥

पूर्व में जो-जो साधन भगवत्प्राप्ति के बताये हैं वे सभी जिसके किंकर अर्थात् अनुच र हैं उस कृष्णानुग्रह रूप साधन के लिए भगवत्परायण होकर सदा प्रार्थना करे ॥१०॥

पुरा कथिताः सर्वे ऽप्यपायाः कर्मज्ञानादयो यस्य किङ्कराः किंकर-वत्तदुपजीविनः तद्व्यतिरेकेणाऽकिञ्चित्करत्वा"त्ते शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ना ऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामि"त्याद्यन्वयव्यतिरेकार्थाभ्यः श्रुतिभ्यः तं कृष्णानुग्रहं श्रीकृष्णस्य प्रसादं सदेति कालादिपरिच्छेदव्यावृत्त्यर्थः तत्परः प्रार्थयेदिति तत्परः स एवाऽनुग्रहः परं प्रधानं यस्य सः।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।
इत्यादिश्रुतेः ।
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहाऽस्त्यलभ्यम् ।
प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः ।
इतिस्मृतेश्च ।

चतुर्थ-पञ्चम तरङ्ग में इससे पूर्व कहे गये कर्म ज्ञान भक्ति प्रभृति जितने भी श्रेयः के उपाय हैं वे सब जिसके किंकर अर्थात् किंकर वत् उपजीवी हैं, जिसके विना वे अकिञ्चित्कर हैं अतः "अनेक शास्त्रों का श्रवण करने पर भी बहुत से साधक जिस परमात्मा को नहीं जान पाये, न वह परमात्मा प्रवचनों के द्वारा लभ्य है, न मेधा से नहीं अत्यधिक शास्त्रों के अध्ययन से, वह परम कृपालु श्रीहरि ही जिस भाग्यशाली का वरण करते हैं उसी के द्वारा ही वे लभ्य होते हैं । वही शुद्धात्मा अपने तन को उसे समर्पित करता है ।" इस प्रकार की अन्वय व्यतिरेकार्थ वाली श्रुतियों के प्रमाण से उस कृष्णानुग्रह अर्थात् करुणावरुणालय सच्चिदानन्द परमात्मा सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की अहैतुकी अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए निरन्तर कालादि परिच्छेद शून्य श्रीहरि के आराधन परायण होकर अथवा वह अनुग्रह ही प्रधान साधन है जिसका उस भाव से प्रार्थना करे । "विश्व का धारण पोषण करने वाले उन्हीं प्रभु के कृपा प्रसाद से शोक रहित मुमुक्षु परमात्मा को और अपनी महिमा को भी देख लेता है ।" इत्यादि श्रुति प्रमाणों तथा उस प्रभु के प्रसन्न होने से यहाँ कौन वस्तु अलभ्य हो सकती है, प्रभु की प्रसन्नता में सारे क्लेशों का क्षय हो जाता है, इत्यादिस्मृति प्रमाणों से श्रीहरि का अनुग्रह ही सर्वोपरि उपाय है यह सिद्ध हुआ ।

यद्वा तत्पर इति स श्रीकृष्ण एव परः प्रधानं यस्य सः ।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
इति श्रीमुखोक्तेः ।

अथवा तत्परः इस पद का तात्पर्य है वे भगवान् श्रीकृष्ण ही पर अर्थात् प्रधान हैं जिसके वह साधक । इस सम्बन्ध में श्रीहरि स्वयं अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को कहते हैं--हे पार्थ ! मुझ सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तम में उस प्रकार मन लगावे जिस प्रकार गंगा प्रवाह नित्य अबाधित रूप से प्रवाहित होता है और जिस प्रकार विषयीजन विषयों में मन लगाता है । यदि विविध विषयासक्त मन को मुझ में लगा न सके तो मेरा भक्त बनो अर्थात् साधन स्वरूप भक्ति करो । साधन भक्ति का स्वरूप बताते हैं--भगवान् के लिए जो क्रिया की जाती है वही भक्ति है । नारद-पञ्चरात्र का वचन है--

सुरर्षे: विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरितिप्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत् ॥

अर्थात् हे नारद ! श्रीहरि के निमित्त जिस क्रिया का करना शास्त्रों में कहा गया है वही भक्ति कही जाती है, उसी से पराभक्ति प्राप्त होती है । आगे उसी भक्ति का उपदेश करते हैं--मेरा यजन करो, द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादि गीतोक्त पञ्च यज्ञों से अथवा नारदपञ्चरात्रोक्त अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वध्याय और योग इन साधनों द्वारा मेरा भजन या पूजन करो । किये गये यज्ञादिकों की अंगहीनता आदि दोषों को हटाने के लिए प्रभु कहते हैं कि मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर को नियमतः नित्य साष्टाङ्ग प्रणाम करो । इस प्रकार जब मेरी आराधना पूर्वक ध्याननिष्ठ बन जाओगे तब तुम ब्रह्मा, शिव आदि के भी दुराराध्य परमानन्द स्वरूप परमप्राप्य मुझ को प्राप्त करोगे। यह बात सत्य है मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मेरे परम प्रिय हो प्रिय से कभी वञ्चना नहीं की जाती ।

प्रीतिविषयस्यैवानुग्रहविषयत्वात् तत्परत्वेन तत्प्रार्थनमेवानुग्रहे प्रधानसाधनमिति अन्येषां पूर्वोक्तानां तत्साधनत्वेऽपि दौष्कर्य्याद्गौणत्वमिति राद्धान्तः । ननु श्रीभगवदनुग्रहः परिच्छिन्नो विभुर्वा नाद्यः अकिञ्चित्करत्वात् अथ कालाद्यधीनत्वाच्च, नाऽपि द्वितीयः सर्वत्र व्याप्त्या सर्वमोक्षप्रसङ्गात् मोक्षसाधनतत् प्रतिपादकशास्त्रयोर्वैयर्थ्यापत्तेश्चेति चेन्न व्यापकस्यापि तस्य श्रवणादिसम्पन्ने आचार्य्यभक्तिसम्पृक्तमनसि पुरुषे एवाविर्भावो नान्यत्र यथा

न्यायमते व्यपकस्यापि गोत्वादिसामान्यस्य सास्नादिमद्व्यक्तावेव सम्बन्धो नान्यत्र यथा वा सिद्धान्ते ब्रह्मस्वरूपस्य व्यापकस्यापि क्वचिदेव तदधिकारि-विशेष आसन्नमोक्षके साक्षात्कारो नान्यत्र तद्वत् प्रकृतेपि बोध्यं तथा च नोक्त-दोषावकाशः नन्वेवं तर्हि साधनसापेक्षत्वं दुर्वारं तथात्वे चाप्राधान्ययोगेनोक्त-सिद्धान्तभङ्गात् अन्योन्याश्रयापत्तेश्च निरपेक्षत्वे च नैर्घृण्यादिदोषप्रसक्तेश्चेति चेन्न भगवतो निरङ्कुशैश्वर्य्ययोगात् तदनुग्रहस्य नैरपेक्ष्ये स्वरूपसाधनशास्त्र-बाधानिवृत्तये वैषम्यादिदोषनिवृत्तये साधनान्तरस्यापि तत्र व्याजमात्रत्वाभ्यु-पगमात्, व्याजमात्रस्य वस्तुनः स्वातन्त्र्यहानिकारित्वायोगात् सर्वं समञ्जसमिति, अन्यथा यमेवैषेत्यादिपूर्वोक्तसाधारणशास्त्रस्य बाधोपि समान एव ॥१०॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां साधनसहकारिनिर्णयो नाम पञ्चमस्तरङ्गः ॥५॥

प्रीति विषय का ही अनुग्रह विषय होने से भगवत्परायण होकर अनुग्रह हेतु प्रार्थना करना ही अनुग्रह को प्रधान साधन माना है, अन्य कर्म ज्ञानादि साधन प्रभु प्राप्ति के साधन होने पर भी सहज न होने से गौण माने गये हैं ।

अब भगवदनुग्रह के सम्बन्ध में विचार करते हैं--क्या वह अनुग्रह परिच्छिन्न (सीमित) है या विभु (व्यापक) है । यदि कहें कि सीमित है तो देश-कालादि के अधीन होने से अकिञ्चित् कर (कुछ न कर सकने वाला) हो गया । यदि कहें कि विभु है तब तो सर्वत्र व्यापक होने से सबका मोक्ष हो जायेगा, मोक्ष के साधन और तत्प्रतिपादक शास्त्रों की व्यर्थता हो जायेगी । ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि भगवदनुग्रह तो भगवान् के समान व्यापक है किन्तु उसका आविर्भाव श्रवण-मनन निदिध्यासन रूप साधन सम्पन्न आचार्य भक्ति सम्पृक्त मन वाले किसी सौभाग्यशाली मनुष्य में होता है सर्वत्र नहीं, जैसे नैयायिकों के मत में गोत्वादि जाति के व्यापक होने पर भी सास्नालाङ्गूलादि वाले व्यक्ति विशेष पिण्ड में ही सम्बन्ध होता है अन्यत्र नहीं, अथवा सिद्धान्त में जैसे ब्रह्म स्वरूप के व्यापक होने पर भी

कहीं-कहीं ही अधिकारी विशेष एवं आसन्न मोक्ष वाले पुरुष में साक्षात्कार होता सर्वत्र नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत (अनुग्रह विषय) में भी समझना चाहिए । ऐसा होने से सर्वमोक्षादि प्रसङ्ग नहीं होता । तब तो अनुग्रह को भी साधन सापेक्ष मानना पड़ेगा, प्रधानतत्त्व में हानि होगी, फिर अन्योन्याश्रय दोष भी आ सकता है, यदि निरपेक्ष मानेंगे तो नैर्घृण्यादि दोष आयेगा । ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि भगवान् का ऐश्वर्यादि योग निरङ्कुश होने से उनके अनुग्रह में भी साधनान्तर निरपेक्षता अक्षुण्ण है फिर भी स्वरूप, साधन शास्त्रों की बाधा निवृत्ति के लिए और वैषम्यादि दोष निवृत्ति के लिए अन्यान्य साधनों का भी उसमें ब्याज मात्र योग स्वीकार किया गया है । ब्याज मात्र वस्तु का किसी के स्वातन्त्र्य योग में हानिकारक योग नहीं हो सकता, अतः सभी पूर्वोक्त प्रसङ्ग अनुग्रह प्राधान्य में सुसङ्गत है । अन्यथा "यमेवैष वृणुते" इत्यादि श्रुति प्रमाण बाधित होगा ॥१०॥

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" व्याख्या में पञ्चमतरङ्ग पूर्ण हुआ ॥५॥

❋ अथ षष्ठस्तरङ्गः ❋

अथ प्रतिबन्धकानाह--

अब प्रतिबन्धक अर्थात् विरोधितत्त्व का वर्णन करते हैं ।

इच्छतामुत्तमं श्रेयो निरूप्यन्ते विरोधिनः ।
सामान्याश्च विशेषाश्च द्विधा हेयाः प्रयत्नतः ॥१॥

विरोधिनो द्विधाः सामान्याश्च विशेषाश्च तन्निरूपणस्य प्रयोजनमाह प्रयत्नतो हेया इति मुमुक्षुभिरितिशेषः ॥१॥

उत्तम श्रेय अर्थात् भगवद् भावापत्तिरूप मोक्ष चाहने वालों के लिए विरोधी तत्वों का निरूपण करते हैं । वे श्रेयस के प्रतिबन्धक सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार के हैं । मुमुक्षु साधकों को सावधानी पूर्वक उन्हें त्यागना चाहिए ॥१॥

तेषां विवेकं दर्शयितुमादौ विशेषान्निर्दिशति--

उनका विवेचन करने के लिए सर्वप्रथम विशेष प्रतिबन्धक बताते हैं--

चतुर्विधा विशेषास्ते स्वज्ञाने प्रतिबन्धकाः ।
ब्रह्मबोधे तथोपाये फलापत्तौ तथैव च ॥२॥

विशेष प्रतिबन्धक चार प्रकार के हैं । वे आत्म ज्ञान में, ब्रह्म ज्ञान में, साधन तत्त्व में एवं मोक्ष प्राप्ति में बाधक रूप से उपस्थित रहते हैं ॥२॥

पूर्वोक्तोभयकोट्योर्मध्ये विशेषाश्चतुर्धा इत्यन्वयः तेषां कार्य्यं निरूपयन्विशेषत्वं विवेचयति ते विशेषाश्चतुर्विधाः तत्र केचित्स्वज्ञान इति प्रत्यगात्मविषयके ज्ञाने ज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाः प्रतिबन्धका इति सर्वत्र संयोजनीयः। केचिच्च ब्रह्मबोधे ब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयके ज्ञाने तदुत्पत्ताविति यावत्, केचित्तु उपाये श्रेयःसाधने संसिद्धौ तदुत्पत्तौ तथेति प्रतिबन्धका यथा स्वज्ञाना-

द्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकास्तथा साधनोत्पत्तावपि केचित्फलात्ताविति फलप्राप्तौ च प्रतिबन्धका इत्यर्थः ॥२॥

पूर्वोक्त दो प्रकार के मध्य में विशेष प्रतिबन्घक के चार भेद बताये हैं । उनके कार्य का निरूपण करते हुए विशेषत्व का विवेचन करते हैं । उन चार प्रकार के विशेष प्रतिबन्धकों में कुछ जीवात्मा के ज्ञानोत्पत्ति में बाधक अर्थात् प्रतिबन्धक हैं । मूल में निर्दिष्ट "प्रतिबन्धकाः" यह शब्द चारों में अन्वित होता है । कुछ प्रतिबन्धक ब्रह्म ज्ञान अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप गुणादि विषयक ज्ञानोत्पत्ति में बाधक हैं, कुछ तो श्रेयः साधन की संसिद्धि में बाधक होते हैं और कुछ फलोत्पत्ति मोक्ष रूप फल प्राप्ति में प्रतिबन्धक होते हैं ॥२॥

तत्र तावदात्मज्ञानप्रतिबन्धकानाह त्रिभिः--

उनमें सर्वप्रथम तीन पद्यों से आत्म ज्ञान के प्रतिबन्धकों का स्वरूप बतलाते हैं ।

अनात्मनि च देहादावात्माऽयमिति निश्चयः ।
भगवन्तं गुरुं चर्त्ते स्वात्मनः परतन्त्रता ॥३॥
आत्मनश्च तदीयत्वे संशयादिविकल्पनम् ।
श्रुत्यादेरवमानश्च ह्यन्यदेवार्चनादिकम् ॥४॥
असच्छास्त्राभिलाषा च स्वस्य स्वातन्त्र्यभावना ।
इत्यादयश्चात्मज्ञाने विज्ञेयाः प्रतिबन्धकाः ॥५॥

अनात्म रूप स्थूल भूत देह आदि में यही आत्मा है ऐसी बुद्धि रखना, भगवान् और गुरु को छोड़कर अन्य देव मनुष्य आदि की पराधीनता मानना, अपने को भगवदीयत्व होने में सन्देह करना, वेदादि शास्त्रों की अवहेलना श्रीहरि को छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा, आराधना करना, असत् शास्त्रों का अभ्यास करना अपने आप को स्वतन्त्र समझना इत्यादि भावों को विशेष रूप से आत्म ज्ञान में प्रतिबन्धक (विरोधी) जानना चाहिए यह कारिकाओं का सामान्य अर्थ है ॥३-४-५॥

अनात्मनि देहादौ देवो ऽहं मनुष्यो ऽहं ब्राह्मणो राजन्यः स्थूलो ऽहं कृशः काणो देवदत्तस्य पुत्र इत्यादिनिश्चयः एवम्भूत एवाहं न त्वेभ्यो विलक्षण इति, यो ऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।

किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।

इत्यादिस्मृतेश्च ।

किञ्च भगवन्तं गुरुं च ऋते विना तदितरपरतन्त्रत्वमात्मनइति हरिं गुरुं च हित्वा ऽन्यजीवस्य पारतन्त्र्यमित्यर्थः ॥३॥

किञ्च तदीयत्वे भगवदीयत्वे संशयादिविकल्पनमिति अहं भगवदीयो ऽस्मि न वेति विकल्पः, श्रुत्यादेर्भगवदाज्ञारूपस्य शास्त्रस्यावमानो ऽश्रद्धया ऽस्वीकारः, अन्यदेवानां श्रीभगवदितरेषां ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनामर्चनम् ॥४॥

आत्मा से भिन्न देहेन्द्रियादि वस्तु में मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूं, क्षत्रिय हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ और देवदत्त का पुत्र काना है इत्यादि निश्चय करना, इसी प्रकार का ही मैं हूँ किन्तु इनसे अन्य विलक्षण कोई नहीं हूँ इस प्रकार की धारणा आत्म ज्ञान में बाधिका है । क्योंकि शास्त्र बतलाते हैं--"जो देहादि से भिन्न चैतन्य रूप से विद्यमान आत्मा को देहादि जडवस्तु रूप समझता है वह आत्मचोर कहलाता है । अतः उस आत्मचोर ने कौनसा पाप नहीं किया । अर्थात् वह अत्यन्त पापी है । इसी प्रकार भगवान् और गुरु को छोड़कर अन्य की पराधीनता समझना या स्वीकार करना भी आत्म ज्ञान में बाधक है ॥३॥

और भी कहा है--भगवदीत्व होने में संशय आदि की कल्पना करना अर्थात् मैं भगवान् का अंश हूँ या नहीं इत्यादि विकल्प सोचना श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्रादि भगवदाज्ञा रूप शास्त्रों की अवमानना करना, उनमें श्रद्धा का अभाव होना और आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रमाण रूप में उनको अस्वीकार करना, श्रीहरि को छोड़कर अन्य ब्रह्म रुद्रेन्द्रादि देवों की ही आराधना करना अर्थात् अङ्गभूत देवों को अंगीरूप में स्वीकार करना भी आत्मज्ञान में प्रतिबन्धकता है ॥४॥

असच्छास्त्राभिलाषा चेति अनात्मविषयकस्य तर्कादिरूपस्योपनिषित्सिद्धान्तविपरीतस्य शास्त्रस्याऽभिलाषा इति मे भूयादिति वासना स्वस्य प्रत्यगात्मनः ।

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽत्महनो जनाः ॥
न चेदवेदीन्महती विनष्टिरित्यादिश्रुतेः ।
नानुध्यायेद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
इत्यादिश्रुतेः ॥५॥

उननिषद् सिद्धान्त के विपरीत केवल तर्कादिरूप अनात्म विषय शास्त्रों में रुचि रखना स्वयं को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र समझना, श्रुति कहती है-- जो लोग अनात्म विषयों को आत्म स्वरूप समझते हैं वे आत्मघाती हैं । ऐसे जन शरीर छूटने के पश्चात् कर्ममयपाशों से बंधे हुए उन लोकों में जाते हैं जो असुरों के हैं तथा जो घोर अन्धकार से घिरे हुए होते हैं । इस मानव जन्म में आत्म तत्व को नहीं पहचाना तो महती हानि है क्योंकि ऐसा मोक्षाधिकारी मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता ।

श्रुति यह भी निर्देश करती है कि मुमुक्षु को अत्यधिक शास्त्रों का अनुशीलन भी नहीं करना चाहिए वह वाणी को शिथिल बना देता है इत्यादि विशेष रूप से आत्म ज्ञान में प्रतिबन्धक (बाधक) समझने चाहिए ॥५॥

अथ ब्रह्मज्ञानविरोधिन उच्यन्ते--

अब ब्रह्म ज्ञान के विरोधी तत्व बतलाते हैं ।

हरौ तदितरस्यैक्यं तेष्वेव परतत्त्वधीः ।
मनुष्यत्वादिभावश्चाऽवतारेषु परात्मनः ॥६॥
मन्त्रादौ शब्दताबुद्धिः कथायां लौकिकी मतिः ।
पाषाणादिमतिश्चैव शालग्रामादिमूर्तिषु ॥७॥
अनन्तगुणसम्पन्ने गुणशून्यत्वभावना ।
ब्रह्मज्ञानाप्तिकामेन वर्ज्जनीया विरोधिनः ॥८॥

श्रीहरि में अन्य ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि देवों का ऐक्य भाव रखना, उन देवों में ही परतत्त्व बुद्धि रखना, भगवान् के मङ्गलमय अवतार विग्रहों में सामान्य मनुष्यत्वादि भाव देखना, विष्णु मन्त्रों में शब्द सामान्य बुद्धि होना, प्रभु की लीला-कथाओं को लौकिक कहानी-उपन्यास की तरह समझना, भगवान् के अर्चाविग्रह शालग्राम आदि मूर्तियों में पाषाण धातु, काष्ठादि बुद्धि से देखना, अनन्त कल्याण गुणगण निलय परमात्मा में गुण शून्यता या गुणहीनता की भावना रखना इत्यादि विपरीत भावनाएँ ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के इच्छुक साधक को सदा ही त्यागना चाहिए ॥६-७-८॥

भगवति तदितरसाम्यबुद्धिः ब्रह्मरुद्रादिदेवान्तरेषु परत्वबुद्धिः भगवदीयावतारेषु मनुष्यतिर्य्यक्त्वादिबुद्धिरिति ॥६॥

किञ्च वैष्णवमन्त्रादौ शब्दसामान्यभावः भगवत्कथायां लौकिकाख्यानकल्पना श्रीशालग्रामादौ पाषाणादिबुद्धिरिति ॥७॥

भगवान् श्रीहरि में उनसे भिन्न ब्रह्म-रुद्रन्द्रादि देवों की तुलना समझना, उन ब्रह्मादि प्राप्तैश्वर्य वाले देवान्तरों में परब्रह्मत्व भाव रखना भगवान् नारायण के मत्स्याश्वकच्छपादि अवतारों में सामान्य तिर्यक् पश्वादि बुद्धि रखना तथा रामकृष्णदि अवतारों को साधारण मनुष्य रूप मानना ब्रह्म ज्ञान में विरुद्ध भाव है ॥६॥

इसी प्रकार षडक्षरी, अष्टाक्षरी, दशाक्षरी, द्वादशाक्षरी, अष्टादशाक्षरी आदि वैष्णव मन्त्रों में सामान्य शब्दों का भाव रखना, भगवान् विष्णु के विविध अवतारलीला चरित रूप कथाओं में लौकिक आख्यान, कहानी, उपन्यास आदि की भावना उदित होना, श्रीमद्भागवतोक्त--

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

इस वचन के अनुसार विधिवत् प्रतिष्ठित भगवान् के अर्चाविग्रहों में सामान्य पत्थर-लकड़ी-लोह आदिधातु मिट्टी आदि का भाव रखना भी ब्रह्म ज्ञान में प्रतिबन्धक माना गया ।

अनन्तकल्याणगुणे भगवति श्रीवासुदेवे गुणशून्यत्वमायिकगुणत्वादिकल्पना चेत्यादयो ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुत्वात्तद्द्वारा ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धका इति निर्गलितार्थः "यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवतीत्यादिश्रुतेः ।

प्रजापतिस्मृतौ च ।

नारायणं परित्यज्य हृदिस्थं प्रभुमीश्वरम् ।
योऽन्यमर्चयते देवं परबुद्ध्या स पापभाक् ॥

भारते सप्तर्षिवादे--

विष्णुं ब्रह्मण्यदेवेशं देवदेवं जनार्द्दनम् ।
त्रैलोक्यस्थितिसंहाररसृष्टिहेतुं निरञ्जनम् ॥
विहाय सम्भजत्यन्यं विषस्तैन्यं करोति यः ।
इति ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम् ॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा ।
यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥
इत्यादिस्मृतिश्च ।

न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ ।
इत्यादिप्रमाणं क्रमेणानुसन्धेयम् ॥८॥

स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया दया दाक्षिण्य सौकुमार्य सौशील्यादि अनन्तानन्त कल्याण गुणों के आश्रय या निधान श्रीहरि में गुणहीनता या मायागत सत्वादि गुण युक्तता की कल्पना करना इत्यादि भाव ब्रह्म स्वरूप को तिरोहित करने में हेतु होने से ब्रह्म ज्ञान प्रतिबन्धक कहे गये हैं, यह इसका सैद्धान्तिक अर्थ है । अब ग्रथन्कार पूर्वोक्त कथन को श्रुति-स्मृति

शास्त्रोक्त प्रमाणों से प्रमाणित करते हैं--श्रुति कहती हैं, "जो साधक अपने आराध्य इष्टदेव को छोड़कर अन्य देवों की आराधना में संलग्न रहता है वह अपने स्वार्थ से डिग जाता है और पराभक्ति या परागति को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता, वह अत्यन्त दोष का भागी भी हो जाता है । अपने हृदय में विराजमान कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्व समर्थवान् ईश्वर, परमात्मा नारायण को छोड़कर श्रेष्ठता की भावना से जो अन्य देव को पूजता है, वह दोष का भागी होता है" ऐसा प्रजापति स्मृति में कहा गया है । महाभारत के सप्तर्षि सम्वाद में भी कहा है--तीनों लोकों के सृष्टि, पालन, संहार के कारण, अपास्त समस्त दोष, ब्रह्मण्य देव, देवाधिदेव जनार्दन भगवान् विष्णु को छोड़कर जो अन्य देव का भजन करता है निश्चय ही वह अमृत छोड़कर विष का पान करता है ।

गीता में प्रभु कहते हैं--अनादि काल के पाप के प्रभाव से मेरे स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान के कारण जो लोग मूढ बने हुए हैं, वे निर्दोष-स्वभाव, समस्त कार्यों का फलदाता, निखिल जगदभिन्ननिमितोपादान कारण, मुक्तोपसृप्य मुझ सर्वेश्वर को वसुदेव पुत्र समझ कर मेरी अवज्ञा करते हैं । अर्थात् मैं साक्षात् परमेश्वर हूँ ऐसा वे नहीं मानते । कारुण्यादिवश भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए स्वेच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने के कारण मनुष्य के समान दीखने वाले मुझको मोहग्रस्त व्यक्ति साधारण या प्राकृत मनुष्य ही समझते हैं । अतः वे मेरा आश्रय ग्रहण नहीं करते और संसार बन्धन से कभी मुक्त नहीं होते ।

इस प्रकार से मेरी अवज्ञा के कारण वे महापापी बने हुए हैं अतः सर्वविध पुरुषार्थ से रहित क्रूर स्वभाव के होकर नरकगामी होते हैं । मेरी उपेक्षा करके अन्य देवी-देवता ही मेरी कामना पूर्ण करेंगे ऐसी उनकी आशा व्यर्थ है । इसीलिए मोघाशा कहते हैं--"फलमतः उपपत्तेः" अर्थात् एक ब्रह्म ही सब जीवों को उनके किये कर्मों के अनुसार फल देते हैं अन्य कोई नहीं दे सकता । इस सूत्र के आधार पर जो उन कर्मफलदायक श्रीहरि से विमुख होते हैं उनके कर्म फलरहित होते हैं अतः वे मोघकर्मा कहे जाते हैं ।

इसी प्रकार ईश्वर को असिद्ध करने वाले कुतर्क युक्त शास्त्रों का ज्ञान भी व्यर्थ है इसीलिए मोघज्ञान कहे जाते हैं । इन सबका मूल कारण है चित्त के स्वामी भगवान् श्रीवासुदेव का चिन्तन नहीं करने से विचेतस अर्थात् प्रमादी होना है । इसी कारण तामस युक्त हिंसा द्वेष वाली राक्षसी प्रकृति एवं धर्म, ज्ञान, विवेक को हरण करने वाले मोहक स्वभाव को प्राप्त होते हैं । जो व्यक्ति विष्णु की प्रतिमा में लोह बुद्धि करता है अथवा परम दयालु सद्गुरु में साधारण मनुष्य भाव रखता है वे दोनों नरकगामी होते हैं । इत्यादि स्मृति वचन प्रसिद्ध हैं ।

वह परब्रह्म परमात्मा समस्त कल्याण गुणात्मक है, क्योंकि ज्ञान, बल, क्रियादि अनन्त दिव्य गुण उनके स्वाभाविक हैं । उस परमात्मा की न तो प्राप्तैश्वर्य ब्रह्म रुद्रेन्द्रादि देव समानता करते हैं नहीं उनसे उत्कृष्ट गुण शक्ति वाले हो सकते हैं । ऐसा कहीं देखा नहीं गया है इत्यादि शास्त्र प्रमाणों को क्रम से अनुसन्धान करना चाहिए ॥८॥

अथ साधनप्रतिबन्धकानाह--

अब साधन के विरोधीतत्त्व बताते हैं ।

अवगम्य स्वपापानां बाहुल्यं जगदीश्वरे ।
तन्निवृत्तावनीशत्वं विश्वासन्यूनता तथा ॥९॥
साधनान्तरनिष्ठा च मन्त्रान्तरपरिग्रहः ।
जपपूजादिसेवायां कामान्तरमनोगतिः ॥१०॥
स्वधर्म्माचरणे चैव फलोपायत्वभावना ।
गुरौ मर्त्यमतिस्तत्र खिलत्वं गौरवस्य वै ॥११॥
इत्यादय उपायानां प्रतिबन्धाः प्रकीर्तिताः ।
वर्ज्जनीयाः प्रयत्नेन श्रेयस्कामैश्च वैष्णवैः ॥१२॥

अपने पापों को अधिक समझ कर उनके निराकरण करने के लिए श्रीहरि में असमर्थता समझना और उनमें विश्वास की न्यूनता करना, भक्ति, ज्ञान, प्रपत्ति से अन्य किन्हीं साधनों में निष्ठा रखना, गुरु प्रदत्त विष्णु मन्त्र में अश्रद्धा कर दूसरे मन्त्रों को ग्रहण करना, जप, पूजा, सेवाराधना के समय

अन्य वस्तु की इच्छा से मन चञ्चल करना, स्वधर्माचरण में फलाकांक्षा रखना, गुरु मे मर्त्यबुद्धि करना और उनमें गौरव की कमी समझना इत्यादि साधनों में आने वाले प्रतिबन्धक कहे गये हैं । अतः कल्याण की कामना करने वाले वैष्णवों को उन्हें प्रयत्न पूर्वक त्यागना चाहिए ॥९,१०,११,१२॥

स्वपापानां वाहुल्यमवगम्य निश्चित्य तन्निवृत्तौ तेषां निराकरणे जगदीश्वरेऽनीशत्वम् असामर्थ्यभावनं विश्वासस्य न्यूनता चेति योजना ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।
नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने हरेः ॥
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी नरः ।
इत्यादिशास्त्रविरोधात् ॥९॥

जपादिसेवायाम् अनया ममाऽयं कामो भूयादिति मनसि सङ्कल्पः इहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव, अमुष्मिन्मनःकल्पनमिति श्रुतिविरोधात् ॥१०॥

स्वधर्म्मेति अयं मदीयो धर्म्मः मत्सेवाकल्पितफलस्योपायः अनेनामुं फलं प्राप्स्यामीति भावना अन्यत् स्पष्टम् ।

तथा च ।
यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ ॥
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै न द्रुह्येत् कदाचनेति श्रुतेः ।
एकाक्षरप्रदातारमाचार्य्यं यो ऽवमन्यते ।
श्वानयोनिशतं प्राप्य चाण्डालेषूपजायते ॥
उपायानां साधनानां प्रतिबन्धकास्तद्विरोधिन इत्यर्थः ॥१२॥

साधक के मन में अपने जन्म-जन्मान्तरीय पापों की बहुलता जानकर या निश्चित कर उनका निराकरण या विनाश करने की शक्ति जगदीश्वर श्रीहिर में भी नहीं हो सकती ऐसी भावना उत्पन्न होना साधन में आने वाला प्रतिबन्धक है । क्योंकि श्रुति में "उस परमात्मा की परा शक्तियाँ अनेक विध, ज्ञान, बल नाम क्रिया आदि रूप से कहीं गयी है" स्मृति में भी कहाँ है--"श्रीहरि के मंगलमय नाम में पापों को दग्ध करने की जितनी शक्ति है

उतना पाप तो पापी मनुष्य कभी कर ही नहीं सकता" इत्यादि शास्त्र प्रमाण के रहते साधक को प्रभु सामर्थ्य में न्यूनता या अविश्वास नहीं करना चाहिए ॥९॥

इस जप, पूजा, सेवा रूपी साधन से मोरी यह कामना पूर्ण हो जाय इस प्रकार मन में संकल्प करना भी साधन विरोधी है । क्योंकि ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगों के प्रति नैराश्यभाव उत्पन्न होने पर ही परब्रह्म चिन्तन में मन समर्थ होता है, तभी अभीष्ट की सिद्धि होती है । अतः भगवदाराधना में फल कामना विरुद्ध होने से उसे त्यागना चाहिए ॥१०॥

यह मेरा धर्म है मेरे संकल्पित फल का साधन है । अतः इस धर्म रूप साधन से मैं अमुक फल प्राप्त करूँगा इस प्रकार की भावना भी साधन में प्रतिबन्धक है । और भी कहा है--जिस साधक शिष्य की जैसे हरि में भक्ति है वैसी ही भक्ति गुरु में भी हो तो उस महात्मा साधक के सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं । गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परा गति है वही ब्रह्म विद्या का उपदेश देकर उसे नवीन जीवन प्रदान करते हैं, विद्योपदेश के पश्चात् शिष्य का दूसरा जन्म माना जाता है । अतः शिष्य को गुरु से कभी द्रोह नहीं करना चाहिए । इत्यादि श्रुति प्रमाण से गुरु की अपूर्व महिमा लक्षित होती है । एक अक्षर का भी उपदेश करने वाले गुरु (आचार्य) का जो अपमान करता है वह सैकड़ों जन्म कुत्ते की योनि में भटकता है अन्त में मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी अत्यन्त निकृष्ट चाण्डाल शरीर को प्राप्त होता है । इसलिए गुरु में सामान्य बुद्धि या अवहेलना आदि करना साधन विरोधी होने से साधक को उससे सदा सावधान रहना चाहिए ॥११-१२॥

अथ फलविरोधिन उच्यन्ते--

अब फल विरोधी तत्त्व बताते हैं ।

धर्म्मादौ पुरुषार्थत्वबुद्ध्या तद्याचनं हरेः ।
पूजादिक्रियमाणायामात्मस्वातन्त्र्यभावनम् ॥१३॥
सच्छास्त्रं च परित्यज्य कामचारेण वर्तनम् ।
इत्यादयः फलस्योक्ताः प्रतिबन्धाः मनीषिभिः ॥१४॥

धर्म, अर्थ, काम इन त्रिविध पुरुषार्थ को ही कल्याण स्वरूप समझ-कर श्रीहरि से उन्हीं की याचना करना, जप, पूजा, पाठ आदि क्रियमाण सत्कर्मों में अपने को स्वतन्त्र समझना वेद-वेदान्त-पुराणेतिहासादि सत् शास्त्रों को छोड़कर अपने मन माने ढंग से वर्ताव करना इत्यादि विषयों को मनीषी जनों ने मोक्ष रूप फल (परम पुरुषार्थ) के प्रतिबन्धक बतलाये हैं ॥१३-१४॥

धर्मादौ धर्मार्थकामेषु एते पुरुषार्थाः श्रेयोरूपा इतिवासनया हरेः सकाशात्तेषां याचनं हे हरे मम त्रिवर्गं देहीति प्रार्थनम् ।

यदा सर्वे प्रमुच्येरन् कामा ह्यस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

इति ।

अन्नपानं धनं वस्त्रमायुरैश्वर्य्यमास्पदम् ।
आपद्यपि न याचेत पूजकः पुरुषोत्तमम् ॥
तत्पादभक्तिज्ञानाभ्यां फलमन्यत् कदाचन ।
न याचेत्पुरुषो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम् ॥

इत्यादिस्मृतेर्मानात् ।

किञ्च आत्मस्वातन्त्र्यभावनमिति अहमत्र स्वतन्त्रः कर्त्ता ममेदं कर्म मयेदं साधु कृतमिति निश्चयः स एव साधु कर्म कारयतीत्यादिश्रुति-विरोधात् ॥१३॥

धर्म, अर्थ, काम में ये ही श्रेयः रूप हैं ऐसी वासना से अखिलान्त-रात्मा परमेश्वर श्रीहरि से मोक्ष की याचना न करके उस त्रिवर्ग की ही याचना करना अर्थात् हे प्रभो ! मुझे धर्मादि त्रिवर्ग प्रदान करें ऐसी प्रार्थना करना मोक्ष/फल प्राप्ति में प्रतिबन्धक समझना चाहिए ।

स्मृति शास्त्र निर्देश करते हैं--"जब मुमुक्षु साधक के हृदय में संस्थित सभी कामनाओं की निवृत्ति होती है और निरवच्छिन्न ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ।" भगवान् की आराधना करने वाला भक्त आपत्ति में भी श्रीहरि से अन्न, जल, धन, वस्त्र, आयु, ऐश्वर्य और स्थान आदि नहीं मांगे । यदि

मांगना हो तो उनके चरणों की सेवा प्राप्त हो और उनके रूप गुण-महिमा का ज्ञान प्राप्त हो ऐसा मांगे । अन्य वस्तुओं की याचना करने से निश्चय ही भगवत्सान्निध्यरूपी फल अदृश्य हो जाता है ।

और आगे बताते हैं कि यह समझे कि जप, तप आदि साधन करने में मैं स्वतन्त्र हूँ मेरा ही यह कर्म है, मैंने ही यह किया है इत्यादि निश्चय करना फल विरोधी भावना है । क्योंकि श्रुति कहती हैं--वही सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, परमात्मा पुरुषोत्तम सर्वविध जीवों से साधु असाधु सभी कर्म कराते हैं, जीव की स्थिति प्रवृत्ति ही श्रीहरि के अधीन है ॥१३॥

सच्छास्त्रं श्रुतिमूलं धर्मनिर्णायकं सात्त्विकं श्रीभगवद्गीतापञ्च-रात्रादिकं कामचारेण स्वेच्छाचारेण ।

वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते ।
तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद्भविष्यति ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
इतिशास्त्रात् ।

आदिना च देहादीनांबहुकालावस्थितीच्छा भगवतो भागवतानां च बुद्धिपूर्वकापराधाचरणं असत्सङ्गतिश्चेति साक्षाच्छ्रेयउपलब्धौ प्रतिबन्धकाः निरयप्राप्तिहेतवश्चेति महता यत्नेन हेया विवक्षिताः ।

तथाचाह मनुः ।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशभृतको यथा ॥
प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः ।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥
इतिश्रीव्यासोक्तिश्च ।

श्रुति मूलक धर्म के निर्णायक सात्विक पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, नारद पञ्चरात्र आदि सत् शास्त्रों को छोड़कर मनमाने ढंग से स्वेच्छाचरण करना फल प्रतिबन्धक है । भगवान् वामन बलि से कहते हैं--हे दैत्येन्द्र ! जो लोग वेदोक्त धर्म को त्याग कर अन्य धर्म का अनुसरण करते हैं उनका सब सुकृत फल मेरे अनुग्रह से तुम्हें प्राप्त होगा । श्रीकृष्ण गीता में बतलाते हैं--हे अर्जुन ! जो व्यक्ति शास्त्रीय कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी होते हुए शास्त्र विधि निषेध व्यवस्था को छोड़कर अपनी इच्छा से गुणों के कार्य में प्रवृत्त होता है वह सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता और सिद्धि के अभाव में लोक परलोक में सुख-आनन्द भी नहीं प्राप्त कर सकता । शास्त्र वह है जो विधि निषेध द्वारा मनुष्य को हित की बात बताता है । श्रुति, स्मृति, सूत्र, तन्त्र, पुराण, इतिहास आदि जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए । अतः शास्त्र को न मानने वालों को कोई फल नहीं मिलता, योग्यायोग्य कार्यों को निश्चय करने में तुम्हारा जो दैवी प्रकृति से युक्त हो वैसा शास्त्र ही प्रमाण होना चाहिए । इसलिये शास्त्र द्वारा प्रतिपादित विधि-निषेध प्रकरण से धर्म और अधर्म को जानकर कर्म के अधिकार युक्त इस मनुष्य लोक में अपने वर्णोचित युद्ध आदि कर्मों को तुम्हें करना चाहिए ।

कारिकोक्त आदि शब्द से देहादियों की बहुकाल पर्यन्त अवस्थित रहने की इच्छा रखना, भगवान् और भक्तों का जान बूझ कर अपराध-अपमान करना, असज्जनों का संग करना आदि भावनाएँ साक्षात् फल प्राप्ति में बाधक और नरक प्राप्ति कराने में कारण होती हैं । अतः मुमुक्षु साधक को सावधानीपूर्वक त्यागना चाहिए ।

इसी भाव को महाराज मनु व्यक्त करते हैं--"मुमुक्षु को किसी विपत्ति के कारण दुःखी होकर मरने का प्रयास नहीं करना चाहिए न ही सुखी जीवन मिला एतदर्थ आनन्दित होना चाहिए, जैसे भृत्य सेवक समयावधि और वेतन आदि की आशा लगाये रहते हैं उसी प्रकार मृत्यु की प्रतीक्षा करें । भगवान् व्यासजी कहते हैं--प्रायः पाप कर्म करने के कारण

लोग मृत्यु से अत्यन्त भयभीत रहते हैं, किन्तु कुशल पुण्यात्मा पुरुष प्रिय अतिथि की तरह मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं ।

पुण्यं मद्वेषिणां यच्च मद्भक्तद्वेषिणां तथा ।
कथासु मम दैत्येश कथ्यमानासु तत्र वै ॥
अशृण्वन् यो नरो गच्छेत्तस्य संवत्सरार्ज्जितम् ।
यत्नेन महता तात तत्पुण्यन्ते भविष्यति ॥
इतिहरिवंशे श्रीवामनोक्तिः ।
वनपर्वणि दुर्वासाः ।
वृथापापेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ॥
मास्मांश्चाऽक्षुधान् दृष्ट्वा पाण्डवाः क्षुरचक्षुषा ।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वो तूलराशिमिवाऽनलः ॥
स्मृत्वाऽनुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः ।
विभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ॥१॥
तत एतानदृष्टवैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ।
इत्यादि ।

हरिवंश पुराण में भगवान् श्रीवामन प्रभु दैत्यराज बलि से कहते हैं- दैत्येश ! मुझ से द्वेष करने वाले और मेरे प्यारे भक्तों से द्वेष करने वाले मनुष्यों का जो कुछ भी पुण्य है वह सब तुम्हें प्राप्त होगा तथा मेरी अवतार-लीला चरितों की लोक पावन कथाएँ चल रही हों उन्हें सुने विना ही जो मनुष्य उठ कर चल देता है उसके वर्ष-दिन पर्यन्त बड़े परिश्रम से किये गये सभी पुण्य भी तुम्हें ही प्राप्त होंगे ।

महाभारत के वन पर्व में महर्षि दुर्वासा कहते हैं-(एक बार हस्तिनापुर में दुर्योधन ने महर्षि दुर्वासा की अत्यन्त सावधानी से भक्ति पूर्वक सेवा की। इससे प्रसन्न हो मुनि ने वर माँगने को कहा तब दुर्योधन ने उनसे प्रार्थना की कि महर्षे ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो इस समय पाण्डव पाञ्चाली सहितं

वनवास में हैं वहाँ उस समय अतिथि बन कर पहुँचे, जब द्रौपदी भी भोजन कर चुकी हो । दुर्वासा को समझते देर न लगी कि दुर्योधन का मन कपट भाव से पूर्ण है । फिर भी वचन दे चुके थे, वहाँ पहुँचे । महाराज युधिष्ठर ने भाइयों सहित महर्षि का स्वागत करते हुए आतिथ्य ग्रहण के लिए प्रार्थना की । उधर द्रौपदी भोजन कर बर्तन साफ कर रही थी । महर्षि दुर्वासाजी शिष्यों सहित मध्याह्न कालिक आह्निक कर्म करने नदी की ओर गये लौटने के बाद आतिथ्य ग्रहण करेंगे ।

इधर धर्मराज युधिष्ठिर को जानकारी मिली कि द्रौपदी ने भी प्रसाद ग्रहण कर लिया तब उन्हें बड़ा अपशोच हुआ अब क्या होगा । क्योंकि भगवान् सूर्य से उनको एक अक्षय पात्र मिला था, उसका यह प्रभाव कि जब तक द्रौपदी भोजन न करें तब तक उस दिन के लिए कितने भी अतिथि आ जायें सबको तृप्त किया जा सकता था । अब तो पाञ्चाली ने दुर्वासा के कोप से बचने के लिए द्वारकाधीश श्रीकृष्ण का स्मरण किया प्रभु तत्काल उपस्थित हुए । श्रीहरि ने विनोद पूर्वक उस पात्र में एक अन्न कण निकाला, विश्व की तृप्ति हेतु ज्यों हि स्वयं भक्षण किया त्यों ही शिष्यों सहित दुर्वासा की पूर्ण तृप्ति हुई । उस समय का प्रसंग है ।)

मैंने व्यर्थ ही पापमय विचारों से ग्रस्त होकर पूर्व में उस परम भागवत ब्राह्मण भक्त राजर्षि अम्बरीष के ऊपर अभिचार प्रयोग करके महा-अपराध किया था । आज भी उस परम बुद्धिमान् धीर, वीर, सम्राट् अम्बरीष के प्रभाव को याद करके भयभीत होता हूँ । हे मुनीश्वरों ! इस समय हम दुर्योधन के कपट जाल में फंस गये हैं । हमें पाण्डवों ने भोजन के लिये निमन्त्रण दिया है । इधर हम सब अत्यन्त तृप्ति का अनुभव कर रहे हैं । ऐसी परिस्थिति में उनका आतिथ्य कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? सभी पाण्डव धर्म-परायण, सदाचारी, भगवद् भक्त, महात्मा पुरुष हैं, वे यदि क्षुधारहित हमको कुपित होकर तीक्ष्ण दृष्टि से देखेंगे तो रुई की ढेर को अग्नि की तरह भस्म कर सकते हैं । हे विप्रों ! मैं तो ऐसे अनन्य हरि भक्तों से सदा डरता हूँ । अतः कोई अनिष्ट न हो जाय, उनसे विना मिले ही यहाँ से भाग चलो ।

नेदंविदं अनिदंविदान् समुद्दिशेन्न सह भुञ्जीत न वा ऽवसथमाविश्यादित्यादिवह्वृचः ।

कात्यायनसंहितायाम् ।

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।

न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥

विष्णुरहस्ये च ।

आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम् ।

न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवोपसेविनाम् ॥

अन्यत्राऽपि ।

शैवान्पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् ।

अकर्मस्थान् द्विजाञ्छूद्रान् सवासा जलमाविशेत् ॥

शाण्डिल्यस्मृतौ ।

मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखैः ।

सम्बन्धं नाचरेद्भक्तो नश्यते तैस्तु सङ्गमात् ॥

पितृगीते च ।

मा जनिष्ट स नो वंशे जातो वा द्राग्विनश्यताम् ।

आजन्ममरणं यस्य वासुदेवो न दैवतः ॥

इत्यादीन्यपि वाक्यान्यनुसन्धेयानि ॥१४॥

आत्म ज्ञानी जन को अज्ञानियों के बीच प्रवेश नहीं करना चाहिए, न उनके साथ भोजन करे, न ही उनकी बस्तियों में जावे--ऐसा ऋग्वेदियों का मत है । कात्यान संहिता में कहा है--भगवद् विमुख जनों के संग बैठने की अपेक्षा प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला के मध्य बैठ जाना श्रेष्ठ है । विष्णु रहस्य में कहा है--नाना देवों की उपासना में लगे हुए चुभती हुई वाणी बोलने वाले निर्दय व्यक्तियों का कभी संग न करे । बाध्यता हो जाय तो उसकी अपेक्षा विषधर सर्प, व्याघ्र और मगरमच्छ आदि भयंकर जन्तुओं का आलिङ्गन करना उचित है, किन्तु दुर्जनों का संग कभी न करे । कापालिक शैव, पाशुपत मतानुयायी, चार्वाक जैसे नास्तिकों, अकर्मस्थ द्विजों और शूद्रों का स्पर्श हो जाय वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए । शाण्डिल्य

स्मृति का वचन है--सदा पाप कर्म में निरत, क्रूर स्वभाव वाले मूर्खों एवं सत् शास्त्रों से पराङ्मुख जनों से साधक को कभी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, यदि उनसे सम्बन्ध रखता है तो उसका साधन नष्ट हो जाता है जिससे फल प्राप्ति नहीं हो सकती ।

पितृ गीता में लिखा है--जिसके जीवन में जन्म से मरण पर्यन्त भगवान् वासुदेव आराध्य देव नहीं बने वैसा मनुष्य किसी के भी वंश में पैदा नहीं हो यदि पैदा हो जाय तो भी शीघ्र विनाश को प्राप्त हो जाय । इत्यादि वाक्यों का फल विरोधितत्व के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना चाहिए इस प्रकार पूर्वोक्त चार विशेष प्रतिबन्धकों का निरूपण किया गया ॥१४॥

अथ सामान्यभूता उच्यन्ते--

अब सामान्य प्रतिबन्धकों का निरूपण करते हैं ।

शास्त्रमार्गस्य संत्यागः स्वोचितानां च कर्मणाम् ।
परोचितस्य धर्मस्याऽनुष्ठानं च कृतघ्नता ॥१५॥
मानुष्यं दुर्लभं लब्ध्वा पशुवत्तस्य नाशनम् ।
स्ववीर्य्यविक्रयः कृष्णपूजनात्पूर्वभोजनम् ॥१६॥
संन्यासादिविधिं त्यक्त्वा विरागरहितैर्जनैः ।
पितृपुत्रकलत्रादेस्त्यागो द्वेषादिहेतुना ॥१७॥
दैवीसंपत्परित्यागो ह्यासुर्य्याश्च समाश्रयः ।
इत्यादयः समानाः स्युः श्रेयसः प्रतिबन्धकाः ॥१८॥

वेदादि शास्त्रों के मार्ग का और अपने वर्णोचित कर्मों का त्याग करना, अन्य वर्णोचित धर्म का अनुष्ठान तथा उपकारीजन के प्रति प्रतीकार रूप कृतघ्नता करना सामान्य रूप से श्रेयः प्राप्ति हेतु प्रतिबन्धक समझना चाहिए ॥१५॥

देव दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त कर पशु की तरह केवल भोगों में ही उसका नाश करना, अपने धर्म, गुण, पुरुषार्थ आदि का मूल्य द्वारा देना स्ववीर्य विक्रय कहा गया है, भगवान् की पूजा आराधना से पूर्व स्वयं भोजन करना भी श्रेयः प्रतिबन्धक कहा है ॥१६॥

आश्रम नियमानुसार प्राप्त संन्यासादि विधि को छोड़कर द्वेषादि के कारण वैराग्य रहित मनुष्यों के द्वारा माता-पिता, पुत्र-कलत्र आदि का परित्याग करना, सामान्य प्रतिबन्धक कहा गया है ॥१७॥ दैवी सम्पत् का पिरत्याग करके आसुरि सम्पत्ति का आश्रय लेना, इत्यादि सब श्रेयः प्राप्ति के प्रतिबन्धक समझना चाहिए ॥१८॥

शास्त्रमार्गस्येति तन्मर्य्यादायाः ।
श्रुतिस्मृती ममैवाऽऽज्ञे ।
इति भगवदुक्तेः ।
स्वोचितानां स्ववर्णाश्रमोचितानां नियतानाम् ।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागः तामसः पिरकीर्तितः ।
ऋग्यजुःसामसंज्ञेयं त्रयी वर्णावृतिर्नृप ॥
एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाऽऽश्रमी ॥
परिव्राट्च चतुर्थोत्र पञ्चमो नोपपद्यते ।
सन्ध्याहीनो शुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्म्मसु ॥
यदन्यत्कुरुते कर्म्म न तस्य फलभाग्भवेत् ।
नास्तिक्यपरमाश्चैव केचिद्धर्म्मविलोपकाः ॥
भविष्यन्ति नरा मूढा मन्दाः पण्डितमानिनः ।
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ॥
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ।
वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्म्ममन्यं प्रकुर्वते ॥
तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद्भविष्यति ।
इत्याद्यन्वयव्यतिरेकवचनेभ्यः ।

शास्त्र मार्ग का तात्पर्य शास्त्रीय मर्यादा । भगवान् कहते हैं--श्रुति और स्मृति दोनों मेरी ही आज्ञा रूप शास्त्र हैं । यह कथन सूत्र-तन्त्रादिका भी उपलक्षण है । अपने-अपने वर्ण आश्रम हेतु नियत किये कर्मों को स्वो-

चित कर्म कहा गया है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--"हे पार्थ ! त्याग के जो तीन रूप बताये हैं, उनमें काम्य कर्म बन्धन का कारण होने से दोषयुक्त है, अतः उसे छोड़ना उचित है किन्तु नियत जो यज्ञानुष्ठान, जप, पूजा, पाठ आदि हैं वे तो नित्य कर्त्तव्य होने से उनको छोड़ना उचित नहीं है । मुमुक्षु साधकों के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वे सदा उपादेय होते हैं । यदि कोई मोहवश उनका त्याग करता है वह तामस त्याग होने से निन्दनीय है । क्योंकि प्रमाद और मोह तमोगुण से उत्पन्न होते हैं अतः अज्ञान ही है । इस प्रकार तमोगुण के प्रभाव से किया जाने वाला कर्त्तव्य कर्मों का त्याग तामस त्याग कहा गया है । ऋग् यजुः साम ये तीन नाम हैं इन वर्णा वली को त्रयी कहा गया है । जो मनुष्य अज्ञान से इनका त्याग करता है वह नग्न और पापी समझा जाता है ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार ही आश्रमवासी हैं पांचवा कोई नहीं होता । ये सभी सन्ध्या, जपादि नित्य कर्म से हीन होने पर अशुचि माने गये हैं अतः समस्त सत्कर्मों में उनको अयोग्य समझा जाता है । सन्ध्याहीन व्यक्ति अन्य कोई भी सत्कर्म करता है उसका फल कर्ता को प्राप्त नहीं होता । संसार में कुछ लोग वेदादि शास्त्रों की निन्दा करने से नास्तिक कहलायेंगे, कुछ धर्माचरण का परित्याग करेंगे, इतर अज्ञान के वशीभूत और मन्द कहे जायेंगे, अन्य स्वभाव वश अपने आपको बड़ा पण्डित व महान् ज्ञानी समझेंगे । ऐसे लोग कभी भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते । अतः निरन्तर संसार चक्र में घूमते रहेंगे ।

वर्णों और आश्रमों के लिए नियत आचरणों का पालन करने वाले सदाचारी पुरुषों द्वारा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीविष्णु की आराधना की जाती है यही मार्ग उन सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीहरि के लिए सन्तोष का कारण है । भगवान् श्रीवामन दैत्यराज बलि से कहते हैं--हे दैत्येन्द्र ! जो मनुष्य वेदोक्त धर्म को छोड़कर अन्य धर्म का आचरण करते हैं उनके वे सब पुण्य मेरे अनुग्रह से तुम्हें प्राप्त होंगे । इत्यादि अन्वय व्यतिरेक परक वचनों से सामान्य विरोधि तत्वों का निर्वचन किया गया ।

किञ्च परोचितस्येति परस्य स्वस्मादुत्तमवर्णस्य निकृष्टवर्णस्य वाह्यु-चितस्य शास्त्रनियतस्य धर्मस्य ।

स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ।
पर्य्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्रीयादपि कर्म्मणः ।
स तत्रा ऽनधिकारी स्याद् दानादौ दीक्षितो यथा ॥
इति वचनात् ।
किञ्च कृतघ्नतेति परेण कृतस्योपकारस्य नाशनम् ।
गोघ्ने चैव सुरापे च चोरे भग्नव्रते तथा ॥
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।
इति स्मृतौ ॥१५॥

और भी आगे बताते हैं--परोचित अर्थात् अपने से उत्तम वर्ण या अपने से निकृष्ट वर्ण के शास्त्र नियत धर्म का आचरण भी विरुद्ध रूप होता है । चराचर जगत् के नियन्ता भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं---हे अर्जुन ! अपने वर्णाश्रम का शास्त्र विहित धर्म, कर्म, गुणहीन होने पर भी अर्थात् उसके परिपालन में त्रुटि होने पर भी स्ववर्णेतर वर्णों के धर्म कर्म साङ्गोपाङ्ग परिपालित या आचरित होने पर भी उससे वही श्रेष्ठ है । अतः अपने धर्मों में स्थित रहकर मरना भी दूसरों के धर्मों में रहकर जीने की अपेक्षा उत्तम व कल्याणकारी है । क्योंकि पर धर्म में रुचि रखना अत्यन्त भयावह होता है, निरययातना का कारण बनता है । शास्त्र बतलाते हैं--"जो पुरुष शास्त्र सम्मत कर्म से हट जाता है वह यज्ञादि कर्मों में दीक्षित भी है तो क्या दानादि कर्मों में अधिकारी नहीं हो सकता ।"

कृतघ्न उसे कहते हैं जो दूसरों के उपकार को भूलकर उनका अपकार करता है । इसीलिए शास्त्र बतलाते हैं--गो हत्या करने वाले, मद्यपान करने वाले, चोर और गृहीत व्रत को भङ्ग करने वालों का तो प्रायश्चित हो सकता है, सज्जनों ने निश्चय किया है । किन्तु कृतघ्न व्यक्ति का प्रायश्चित है ही नहीं ॥१५॥

पशुवत्तस्य नाशनं तस्येति मनुष्यदेहस्य शूकरादिवद्विषयभोगेन वैरादिभावेन च व्ययः ।

मानुष्यं प्राप्य लोकेस्मिन् मूको वा वधिरोपि वा ।
नाऽपक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्महा भवेत् ॥
लब्ध्वा तन्मानुषं देहं पञ्चभूतसमन्वितम् ।
मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरं नु किम् ॥

इतिवचनात् ।

किञ्च स्ववीर्य्यविक्रय इति स्ववीर्य्यस्य धर्मगुणपौरुषादेः विक्रयणं मूल्येन दानम् ।

तथाह सनत्सुजातः ।

यथा स्ववान्तमश्नाति श्वा वै नित्यं विभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्य्यस्योपसेचनात् ॥
पण्डितैरर्थकार्पण्यात् पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥

इति ।

किञ्च कृष्णपूजनादिति ।

यो मोहादथवाऽऽलस्यादकृत्वा देवतार्चनम् ।
भुङ्क्ते स याति नरकान् शूकरेष्वभिजायते ॥

इति ।

किञ्च संन्यासादिविधिमिति स्पष्टार्थः ।

पितरं मातरं वा ऽपि तथा ऽदत्ताभयं सुतम् ॥
त्यजेच्च तरुणीं भार्य्यां यः खलु ब्रह्महा भवेत् ।

मोक्ष का सोपान स्वरूप मनुष्य देह प्राप्त कर उसका सूकर-कूकरादि की तरह केवल विषय भोग और वैर भाव में व्यय करना श्रेयः प्रतिबन्धक है । शास्त्रों का उद्‌घोष है-मर्त्यलोक में मनुष्य शरीर प्राप्त कर चाहे वह मूक तथा बधिर हो भगवत्प्रपन्न होकर संसार बन्धन से मुक्त नहीं होता वह निश्चय ही ब्रह्मघाती के समान दुष्कर्मा है । इसी प्रकार जो अपने धर्म, गुण, पौरुष आदि स्ववीर्य का विक्रय अर्थात् मूल्य ग्रहण कर अन्य उपयोग में देता है

उसे स्ववीर्य विक्रय कहा है । महाभारत के उद्योग पर्व में महाराज धृतराष्ट्र के प्रति महर्षि श्रीसनत्सुजात कहते हैं--जैसे कुत्ता अपने वमन किये वस्तु को पुनः खाता है उसी प्रकार जो लोग धन वैभव के लिए नित्य अपने पुरुषार्थ का अपव्यय करते हैं निश्चय ही वे अपने ही वमन का उपयोग करते हैं । अर्थाभाव के कारण विद्वानों ने उसी प्रकार सुसंस्कृत आत्मा को दूसरों के अधीन कर दिया जैसे वेश्या स्त्री धन सञ्चय करके अपने शरीर को कामुकों के अधीन कर देती है ।

जो भगवान् की सेवा पूजा और उनको नैवेद्य समर्पण से पहले स्वयं भोजन ग्रहण करता है यह प्रक्रिया भी श्रेयः साधन में बाधिका है । कहा भी है कि जो मनुष्य अज्ञानवश व आलस्य के कारण देवपूजा किये विना भोजन करता है वह नरकागामी होता है और बाद में सूकरादि निरय योनियों में पैदा होता है । वैराग्य के विना संन्यास धारण करना भी महान् दोष बताया है । अनाश्रित अवस्था में माता-पिता को, शिक्षा-दीक्षादि की समुचित व्यवस्था किये विना सन्तति को, अभय स्वरूप पुत्र सन्तति के प्राप्त हुए विना युवति भार्या को जो त्याग देता है वह निश्चय ही ब्रह्मघाती कहलाता है ।

ननु यदहरेवविरज्येतदहरेव परिब्रजेदितिश्रुतेर्मानत्वात्कथं दोषावकाशइतिचेत् तत्राह विरागरहितैरिति तर्हि त्यागे किङ्कारणमित्याशङ्क्याह द्वेषादिहेतुनेति ॥१७॥

शंका करते हैं--श्रुति कहती है --"जिस दिन वैराग्य उपजे उसी दिन संन्यास ग्रहण करे" इस प्रमाण के रहते वह कैसे दोष का भागी बनेगा ? इसका समाधान करते हैं--विराग रहित होकर द्वेषादि के कारण त्यागना दोष बताया है । महर्षि पाणिनि के "षष्ठी चानादरे" इस सूत्र के उदाहरण में भट्टोजी दीक्षित ने कहा--"रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्, रुदन्तं पुत्रादिकं परित्यज्य संन्यस्तवान् इत्यर्थः" "रोते हुए पुत्र-कलत्र आदि को छोड़कर संन्यास ग्रहण किया" इसका तात्पर्य है कि पूर्ण वैराग्य होने पर संन्यास ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है ॥१६-१७॥

किञ्च दैवीसम्पत्परित्याग इति अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादिश्रीमुखोक्तेः परित्यागः अनादरेणाननुष्ठानं, किञ्चासुर्य्याश्च--

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

इत्यादिना निषिद्धायाः सम्पदः समाश्रयः सम्यगनुष्ठानम्, अयं भावः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चेत्यादिना ऽसुराणां लक्षणमुक्त्वा

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसञ्चयान् ।

इत्यादिना तेषां प्रवृत्तिं चोक्त्वा ।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।

इत्यादिना तत्फलं नित्यसंसारित्वरूपाधोगतिं च निरूप्य तस्मादेतत्त्रयं त्यजेदिति एतत्त्रयमूलत्वादासुरभावस्य तत्त्यागः षोडशाध्यायेन विधीयते ।

भूयश्च ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

इत्यनेन व्यतिरेकात्तस्यैव दृढीकरणात् अत्यन्तश्रेयोविरोधित्वान्मुमुक्षुभिर्यत्नेन त्याज्येति ।

किञ्च ।

विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः ।
त एते बहुपाप्मानः सद्यो दण्ड्या इति श्रुतिः ॥
परद्रोहेष्वभिध्यानं मनसा ऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं मानसं स्मृतम् ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चाथ सर्वशः ।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥

इत्यादिसंग्रहार्थ आदिशब्दः ॥१८॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां विरोधिनिर्णयो नाम षष्ठस्तरङ्गः ॥६॥

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त "अभयं सत्वसंशुद्धि" इत्यादि दैवी सम्पदा का परित्याग अर्थात् उन पर अनादर भाव से अमल न करना और आसुरी सम्पदा "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च" इत्यादि द्वारा निर्दिष्ट निषिद्ध स्वरूप आसुरी सम्पदा का सम्यक् अनुष्ठान या आश्रयण करना विरुद्ध भाव बताया गया है । इनका भाव यह है--आुसरी सम्पद् में पैदा हुए मनुष्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के साधक प्रवृत्ति धर्म को और मोक्ष के साधक निवृत्ति धर्मों को और दोनों प्रकार के धर्म को बताने वाले शास्त्रों को नहीं जानते । इसलिए ऐसे मनुष्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों में उपयोगी बाहर-भीतर की पवित्रता नहीं रहती । उनमें शास्त्रोक्त आचार-विचार भी नहीं रहता और सत्यता भी नहीं रहती । असुरों के जो गुण अवगुण प्रसिद्ध हैं जैसे बन्ध मोक्ष के ज्ञान का अभाव, अपवित्रता, अनाचार, मिथ्याभाषण आदि वे सब भेद उन आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यो में पाये जाते हैं । इस प्रकार असुरों के लक्षण बताकर "ईहन्ते काम भोगार्थम्" इत्यादि से उनकी प्रवृत्ति बतायी गयी है । कामोपभोग को ही परम पुरुषार्थ समझने वाले और इससे अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेष्ठ पुरुषार्थ नहीं है ऐसा मानने वाले, मुझसे और सत्पुरुषों से द्वेष करते हुए, उग्रस्वभाव वाले उन अशुभ मनुष्यों को संसार में अर्थात् जन्म-मरणादि के मार्ग में और उस में भी आसुरी योनि में मैं फैंक देता हूँ । इत्यादि कथनों से नित्य संसारित्वरूप और अधोगतिरूप फल का निरूपण करके "तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" काम, क्रोध, लोभ को नरक का द्वार बताकर उनको त्यागने का निर्देश दिया ।

प्रभु और भी आगे उसका व्यतिरेक भाव से दृढीकरण करते हुए कहते हैं--हे कुन्ती नन्दन ! काम, क्रोध, लोभ इन तीनों से तामिस्र, अन्ध तामिस्र आदि नरकों की प्राप्ति होती है, क्योंकि ये तीनों नरक के द्वार कहे गये हैं । इनसे मुक्त हुआ मनुष्य मोक्ष के साधनों का आचरण करता है । तात्पर्य है कि मेरी भक्ति और ज्ञान का आश्रय लेकर भगवद् भावापत्तिरूप मोक्ष प्राप्त करता है । अतः इस आसुरी प्रकृति को मोक्ष विरोधी होने से मुमुक्षु को प्रयत्न पूर्वक त्यागना चाहिए ।

मूल में जो "इत्यादयः" करके आदि शब्द का उल्लेख है उसका संग्रहार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं--"जो विद्या चोर, गुरुद्रोही और वेद तथा ईश्वर पर दोषारोपण करने वाला है ये सभी तत्काल दण्डनीय हैं" ऐसा श्रुति का कथन है । स्मृति में भी कहा है--दूसरों से सदा द्रोह भाव का चिन्तन, उनमें अनिष्ट का चिन्तन करना, व्यर्थ का अभिनिवेश ये तीन प्रकार के मानसिक दोष बताये गये हैं । कठोर भाषण, मिथ्या कथन, दूसरों की चुगली करना और अनर्गल प्रलाप ये चार प्रकार के वाणी-दोष कहे हैं, विना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना, विविध प्रकार की हत्याएँ परस्त्री संसर्ग ये तीन प्रकार के शारीरिक अपराध कहे गये हैं । मुमुक्षु साधक को पूर्वोक्त समस्त श्रेयो विरोधी विषयों से सावधानी पूर्वक सदा दूर रहना चाहिए ॥१८॥

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" व्याख्या में विरोधितत्त्वनिरूपण नामक षष्ठतरङ्ग पूर्ण हुआ ॥६॥

❋ अथ सप्तमतरङ्गः ❋

अथ प्रयोजनं निरूपयति--

अब वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन निरूपित करते हैं ।

मुकुन्दभावसंप्राप्तिः शास्त्रे प्रोक्तं परं फलम् ।

सैव सायुज्यसाधर्म्यब्रह्मसाम्यादिसंज्ञिका ॥१॥

मुकुन्द भाव की सम्प्राप्ति अर्थात् भगवद् भावापत्ति को शास्त्र में परम प्रयोजन मोक्ष रूप फल कहा गया है । उसी को सायुज्य साधर्म्य ब्रह्म साम्य आदि नामों से जाना जाता है ।

मुकुन्दस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणो भगवतो भावो मुकुन्दभावः तदसाधारणधर्म्मः सार्वज्ञादिस्तस्यलेशसंप्राप्तिरिति यावत् ।

"मद्भावायोपपद्यते"

"पूता मद्भावमागता"

इति श्रीमुखोक्तेः ।

सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ।

इत्यादिश्रुत्या सार्वज्ञादियोगविधानात् ॥

"मुकुं मोक्षं ददाति इति मुकुन्दः" इस व्युत्पत्ति से मुकुन्द शब्द का अर्थ मोक्ष दाता सिद्ध होता है, उन पुरुषोत्तम परब्रह्म भगवान् श्रीमुकुन्द का भाव अर्थात् असाधरण धर्म सार्वज्ञ आदि का लेश सम्प्राप्त होना मुख्य फल बताया गया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--मेरा भक्त क्षेत्र का यथार्थ ज्ञान, क्षेत्रज्ञ की प्राप्ति का उपाय और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप की यथार्थता जानकर मेरे भाव के योग्य होता है अर्थात् जन्म मरणादि से रहित स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के योग्य होता है ।

स्त्री-पुत्रादि से प्रेम, भय उत्पन्न करने वाले कर्म, चित्तविभ्ररूप क्रोध आदि जिनके नष्ट हो गये हैं, वे मदात्मक होकर मेरे ही आश्रय में रहते

हैं । समस्त कर्मवासना को दग्ध करने वाला ज्ञान ही तप है जिसका ऐसे परम पावन मेरे बहुत से भक्त मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं होते भी रहेंगे । भगवद् भाव से तात्पर्य है कि उन मुक्तात्माओं का ज्ञान और आनन्द भगवान् (मेरे) के समान असीम होता है । मुक्त जीव (द्रष्टा) सबको निरावरण रूप में देखता है, सर्वज्ञ होता है । इसलिए सर्वज्ञता आदि धर्म के आविर्भाव हो ऐसे और दिव्य विग्रह आदि की समानता होने से मुक्ति की अवस्था में जीव और परमेश्वर में अभेद है । इस प्रकार जीव को भेद और अभेद वाला तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध प्राप्त होता है । महर्षि पतञ्जलि ने "भेदसहिष्णु रभेदस्तादात्म्यम्" अर्थात् भेद को सहने वाला अभेद ही तादात्म्य है, ऐसा कहकर तादात्म्य को भेदाभेद का स्वरूप बताया है । उपर्युक्त श्रुति प्रमाण से मुक्त जीवों में सार्वज्ञादियोग सिद्ध है ।

न चैवमत्यन्ताभेदप्राप्तिः शङ्कनीया, जगद्व्यापारवर्ज्जमिति भेद-विधानात् यद्वा सर्वज्ञविषयकानुभवात् सार्वज्ञयोगो विवक्षितः, येना ऽश्रुतंश्रुतं भवतीत्यादिश्रुतेः । ननु नारायणसायुज्यमाप्नोति मम साधर्म्यमागताः निर-ञ्जनः परमं साम्यमुपैति ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीत्यादिना मुक्तेः वैविध्यश्रवणात् कथं भगवद्भावापत्तिरेव मोक्ष इतिचेत्तत्राह सैवेति, भगवद्भावापतिरेव सायुज्यादिसंज्ञिका नान्येत्यर्थः, तथा हि सह युज्यत इति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं नित्यसंयोग इतियावत् भगवता नित्यसम्बन्धो भावपदार्थः तथा च भगवतो नित्यसम्बन्धलक्षणभावापत्तिरेवेतिफलितार्थः ।

इस प्रकार मुकुन्द भाव सम्प्राप्ति रूप मोक्ष स्वीकार करेंगे तो अत्यन्त अभेद ही मोक्ष का स्वरूप सिद्ध होगा । ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, जगद् व्यापार सृष्टि प्रलय आदि कार्य को छोड़कर ऐसा कहने से भेद सिद्ध है । अतः केवल अभेद नहीं है । अथवा "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि श्रुति प्रमाण से सर्वज्ञ विषयक अनुभव होने से सार्वज्ञादि योग विवक्षित है । एतावता जीव ब्रह्म में स्वाभाविक भेद भी सिद्धान्त सम्मत है ।

शंका करते हैं--नारायण में सायुज्य को प्राप्त होता है "मेरे समान धर्म को प्राप्त हो गये, पुण्य पापरहित निरञ्जन आत्मा परमात्मा की समता

को प्राप्त होता है" "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है" इत्यादि वचनों से मुक्ति के विविध रूप श्रुति गोचर होते हैं तो फिर भगवद् भावापत्तिरूप ही मोक्ष ऐसा क्यों कहते हैं ? इस पर सिद्धान्त पक्ष का निरूपण करते हुए कहते हैं--भगवद् भावापत्ति को ही सायुज्य आदि नाम दिया है अन्य कोई नहीं । उसी का विश्लेषण कर रहे हैं--"सह युज्यते इति सयुक् तस्य भाव" इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय करने पर सायुज्य शब्द बना, इसका अर्थ है नित्य संयोग जो भावापत्ति का ही पर्याय है । इसलिए भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध लक्षण ही तद् भावापत्ति है यह निष्कर्ष समझना चाहिए ।

न च स्वरूपैक्यं सायुज्यमितिवाच्यं शक्यार्थाभावात् । ननु यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति श्रुत्या स्वरूपैक्यविधानात् कथमन्यथास्वीकार इतिचेन्न तत्रापि भेदस्य सत्त्वात् न हि जले मिलितं जलं स्वरूपैक्यं भजते अपितु नित्यसंयोगमेव सावयवद्रव्यत्वात् नद्यादीनां प्रावृषादौ वृद्धिहानिदर्शनाच्च, न च समुद्रे नाशवृद्ध्योरदर्शनादैक्यमेवेतिवाच्यं नद्यादिदृष्टान्तेन तत्राप्यनुमानात् तत्तरङ्गेषु भेददर्शनाच्च, तथा च श्रूयते यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेः विजानत आत्मा भवति गौतमेत्यादिना सादृश्यस्यैव विधानात्, श्रुत्यर्थस्तु श्रीकाश्मीरिचरणैर्विस्तृतः । नाऽपि साधर्म्यवाक्यविरोधः उक्तलक्षणसार्वज्ञस्य तत्रापि सत्त्वात् ।

स्वरूपैक्य को ही सायुज्य कहें इसमें क्या आपत्ति है ? ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सायुज्य का शक्यार्थ स्वरूपैक्य में नहीं है, नित्य संयोग ही उसका शक्यार्थ बनता है । फिर शंका करते हैं कि "जैसे नदियाँ वहती हुई समुद्र में अपना नाम रूप छोड़कर विलीन होती हैं उसी प्रकार आत्म ज्ञानी पुरुष भी अपने नाम रूपादि उपाधियों से मुक्त होकर उस दिव्य पुरुष परात्पर परमात्मा में विलीन होता है" इस श्रुति से स्वरूपैक्य का ही प्रतिपादन किया है आप उसे नित्य संयोग ही क्यों कहते हैं ? इसका समाधान करते हुए सिद्धान्तवादी कहते हैं--नदी-समुद्र के मिलन में भी स्वरूपैक्य नहीं है, वहाँ पर भी भेद की प्रतीति होती है, जल में मिला हुआ जल नित्य

संयोग रूप है स्वरूपैक्य नहीं क्योंकि सावयव द्रव्य होने से नदियों का जल वर्षा ऋतु में बृद्धि को प्राप्त होता है अन्य ऋतुओं में ह्रास को प्राप्त होता । यह भी नहीं कह सकते हैं कि समुद्र में ह्रास-बृद्धि नहीं देखी जाती अतः स्वरूपैक्य है, नदी आदि के दृष्टान्त से उसमें भी ह्रास बृद्धि का अनुमान किया जाता है और तरङ्गों में ह्रास बृद्धि का भेद देखा ही जाता है । श्रुति कहती है--"जैसे शुद्ध निर्मल जल में शुद्ध जल मिल जाने से वैसा ही दीखता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी की आत्मा भी परमात्मा को प्राप्त कर परमात्मा सदृश हो जाती है" इस प्रकार सादृश्य का ही विधान किया है । पूर्वाचार्यों ने ऐसी ही व्याख्या की है । इस कथन से साधर्म्य बोधक वाक्यों का विरोध भी नहीं होता, सार्वज्ञादि लक्षण मुक्तात्माओं में भी घटित है ।

ननु ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति सावधारणश्रुतेः स्वरूपैकता ऽभ्युपगन्तव्या न भेदलेशो ऽपीति चेन्न बृहद्गुणयोगे ऽपि तत्तायाः सुवचत्वात् अन्यथा ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुतिविरोधादितिसङ्क्षेपः । ननु परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणा ऽभिनिष्पद्यत इत्यत्र परमात्मप्राप्तेः साधनत्वेन स्वरूपापत्तेश्च फलत्वेन श्रूयमाणत्वात् कथमेवं भगवद्भावापत्तेरेव पुरुषार्थत्वमिति चेन्न एतद्वाक्यार्थविषयकज्ञानस्य तवाभावात् । तथा हि परंज्योतिःशब्दाभिधेयं श्रीपुरुषोत्तममुपपाद्य तत्स्वरूपगुणादि साक्षादनुभूय स्वेन रूपेण ब्रह्मस्वरूपे गुणादिविषयकप्रत्यक्षानुभूत्याश्रयरूपानुभवितृरूपेण स्वस्वरूपेण निष्पद्यते अनवच्छिन्नत्वेना ऽनुभूयते इत्यर्थः तथात्वे च नकोपि विरोधः भगवद्विषयकानवच्छिन्नानुभूतिरूपस्य भावपदार्थस्या त्रापि श्रवणात् ।

अब पुनः शंका होती है कि "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है" इस श्रुति वचन के सावधारण निर्देश से स्वरूपैक्य ही सिद्ध होता है नित्य योग नहीं ? क्योंकि वहाँ पर भेद का लेश मात्र भी गुञ्जाईस नहीं है, यह कथन भी उचित नहीं है, ब्रह्म सान्निध्य में बृहद् गुण योग होने पर भी नित्य संयोगता को तो कहा ही जा सकता । यदि उक्त श्रुति में नित्य संयोग स्वीकार नहीं करेंगे तो "ब्रह्मविद् परमात्मा को प्राप्त होता है, इस श्रुति वाक्य का विरोध हो जायेगा । अतः उक्त विरोध के परिहार के लिए पूर्वोक्त भाव को

ही स्वीकारना होगा ।" यदि कहें कि "परमज्योतिः स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर अपने स्वरूप से सम्पन्न होता है" इस श्रुति में परमात्मा प्राप्ति को साधन रूप और स्वरूप प्राप्ति को फलरूप से प्रतिपादन किया है तब स्वरूपैक्य को छोड़कर भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ आप क्यों मानते हो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस श्रुति वाक्य का सही अर्थ आपको ज्ञात नहीं है । सुनिये परं ज्योतिः शब्द से कहे जाने वाले श्रीपुरुषोत्तम पद वाच्य पर ब्रह्म के समीप पहुँच कर उनके स्वरूप गुण आदि का साक्षात् अनुभव कर अपने स्वरूप से ब्रह्म स्वरूप में सार्वज्ञादि गुण विषयक प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा स्वाश्रयरूप परमानन्द के अनुभव कर्तृत्व रूप से अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है अर्थात् अनवच्छिन्न रूप से आनन्दानुभूति करता है ऐसा अर्थ करने से पूर्वापर वाक्यार्थों में कोई विरोध नहीं होगा । भगवद् विषयक निरवच्छिन्न अनुभूति रूप भाव पदार्थ का अनुपदोक्त वाक्य में भी श्रवण यथार्थ है ।

ननु
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

इत्यादिवाक्ये भगवतोऽन्तः प्रवेशोक्तेस्तथा च प्रविष्टस्य भेदाभावादभेदः सिद्ध इति चेन्न भगवतो विश्वरूपविग्रहे एव प्रवेशो विवक्षितः न तु स्वरूपे तथात्वे विश्वस्य तत्र सदैव प्रविष्टत्वात् । सर्वं समंजसम् ।

तच्चोक्तं भगवद्गीतैकादशाध्याये ।
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम् ॥
पश्या ऽद्य सचराचरम् ।
ममदेहेगुडाकेश ॥
इत्यादिना ।

तथैव ऽनुभूयार्जुनेना ऽप्युक्तम् ।
पश्यामि देवांस्तव देव देहे ॥
इत्यादिना ।
तच्च वेदान्तरत्नमञ्जूषायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैर्भूयो विस्तृतम् ।

फिर जिज्ञासा करते हैं--भगवान् श्रीहरि ने अपने ऐश्वर्यमय विश्वरूप को दिखाने के बाद अर्जुन से कहा है प्यारे अर्जुन ! तुमने यह जो मेरा अद्भुत विराट् स्वरूप देखा वह केवल अनन्य भक्ति के प्रभाव से तुम देख सके हो, उसी परा भक्ति के बल से यथार्थ रूप में मुझे जाना जा सकता है, देखा जा सकता है और उसमें प्रवेश भी किया जा सकता है । इस भगवद् कथन से यह सिद्ध है मुक्त जीव भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं , भगवद् विग्रह में प्रविष्ट जीव का उनसे भेद न होने से अभेद सिद्ध होता है, ऐसा कहना भी समुचित नहीं है, क्योंकि उक्त पद्य में प्रवेश का तात्पर्य भगवान् के विश्वरूप विग्रह में ही प्रवेश विवक्षित है न कि प्रभु के स्वरूप में प्रवेश । विश्व रूप विग्रह में ही प्रवेश मानने से प्रपञ्चात्मक विश्व का प्रभु के विराट् देह में सदा ही समावेश रहने से कोई विरोध नहीं हो सकता । इसलिए विराट् स्वरूप दर्शन कराने से पूर्व श्रीकृष्ण अर्जुन को संकेत करते हैं "हे निद्रा पर विजय पाने वाले अर्जुन ! मेरे उस विश्व रूप विग्रह में समग्र चराचर विश्व को आज एकत्र स्थित देखो" प्रभु द्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टि से उस सबका जैसा प्रभु ने कहा था उसी प्रकार अनुभव कर धनञ्जय ने कहा "हे विश्वात्मन् ! आपके इस विराट् देह में मैं समस्त देव समुदाय देख रहा हूँ" इत्यादि । इस प्रसङ्ग को श्रीमत्पुरुषोत्तमाचार्यजी महाराज ने वेदान्तरत्नमञ्जूषा में विस्तार से वर्णन किया है ।

किञ्च स्वरूपप्रवेशाभ्युपगमे ऽपि नोक्तसिद्धान्तविरोधः, ब्रह्मणः सर्वाधारत्वात् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुरित्यादिश्रुतेः आकाशवत् सर्वगतत्वाच्च आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इतिश्रुते र्न तत्र भेदग्रहाभावो वालैर्विना वक्तुं शक्यः भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अन्यथा ऽकाशे सर्वस्यापि सत्त्वात् भेदप्रतीतिर्न स्यात् न तु तदस्ति न चा ऽऽकाशात्कार्यस्य पृथक्त्वेनानु-पलम्भादभेदाभ्युपगम इति वाच्यं भेदस्यापि प्रामाणिकत्वेनाऽत्यन्ताभेदस्यैवा ऽनुपपन्नत्वात् प्रत्युता ऽस्मदभीष्टभेदाभेदएव सुप्रसिद्धो नात्यन्ताभेदस्तथा भेदो वा तथा हि वाद्यादेः कार्य्यस्य सत्त्वाच्चावरस्य सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादिशास्त्रात् स्वरूपसत्त्वेन कार्य्यत्वात् तद्व्याप्यत्वा त्तदाधेयत्वाच्च

तदभिन्नत्वात् अपृथक्सिद्धत्वाच्च भेदाऽभेदयोर्विवादः अन्यथा सत्कार्यवाद-प्रसङ्गात् सिद्धान्तभङ्ग इतिसङ्क्षेपः। ननु अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति यत्र नोष्णं न च शीतं स्यादित्यादिना स्वर्गादेरपि फलत्वश्रवणात्कथ-मिदमेव फलमिति तत्रा ऽह परमिति निरतिशयत्वात् नित्यत्वाच्च, न स पुनरा-वर्तत इतिश्रुतेः, स्वर्गादेः फलत्वश्रवणे ऽपि अनित्यत्वात् न तस्य तथात्वमितिभावः। यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवा ऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते इति श्रुतेरिति सङ्क्षेपः ॥१॥

यह भी है कि यदि प्रभु के स्वरूप में प्रवेश स्वीकार कर लें तो भी ब्रह्म के सर्वाधारत्व होने से उक्त सिद्धान्त का विरोध नहीं है । जैसा कि श्रुति कहती है--"जिस परमात्मा में समस्त देवता सविकास निवास करते हैं" इस वचन से और "आकाश की तरह सर्वगत एवं नित्य है" इस श्रुति वाक्य से भी परमात्मा को आकाश की तरह सर्वगतत्व होना प्रतिपादन करते हैं । अतः जीव ब्रह्म में भेद का सर्वथा अभाव है ऐसा कथन अल्पज्ञ बालक के सिवाय कोई भी विज्ञ पुरुष नहीं कह सकता । क्योंकि भेद प्रतीति प्रत्यक्ष सिद्ध है । अन्यथा आकाश में सम्पूर्ण चराचर जगत् की सत्ता होने से किसी की भी भिन्नतया प्रतीति न होती किन्तु भेद प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है । यदि कहें कि आकाश से कार्यभूत जगत् का पृथक्त्व रूप से उपलब्ध न होने से अभेद ही मान लें यह भी नहीं कह सकते, भेद की तो प्रामाणिकता है ही बल्कि अत्यन्त अभेद की ही अनुपपन्नता है । अतः हमारा अभिप्रेत स्वाभाविक भेदाऽभेद ही सुप्रसिद्ध है न तो अत्यन्त अभेद नहीं अत्यन्त भेद उपपन्न या प्रसिद्ध है । उसी का स्पष्टीकरण "सत्वाच्चावरस्य" इस सूत्र से और "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इस श्रुति के माध्यम से करते हैं । जैसे कि "सृष्टि के आदि में इदं शब्द वाच्य" यह कार्यरूप जगत् सदात्मक ही था । इदं शब्द वाच्य जगत् का सत् शब्द वाच्य कारण में अति सूक्ष्म रूप से विद्यमान होने पर भी नाम रूप आदि विभाग का अभाव होने से पृथक् ग्रहण नहीं हो सकता । एतावता स्वरूप सत्ता के कारण कार्यरूप होने से और तद्व्याप्यत्व, तदाधेयत्व, तदभिन्नत्व पृथक् स्थितित्व प्रवृत्तित्व न होने से

भेदाऽभेद में विवाद सा बना है वस्तुतः कोई विवाद नहीं है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो असत्कार्य वाद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । तदनन्तर सिद्धान्त भेद भी होगा ।

अब प्रतिपक्ष की शंका प्रस्तुत करते हैं--"चातुर्मास का यजन करने वाला पुण्यात्माओं का पुण्य अक्षय होता है, उस पुण्य के प्रभाव से वे परम सुखमय स्वर्ग लोक को प्राप्त होते हैं । जहाँ न गर्मी, न सर्दी रहती है, इत्यादि वचानों से स्वर्गादि लोक भी फल रूप है फिर भगवद् भाव को ही फल क्यों कहते हैं । इसी स्वर्गादि फल का व्यावर्तन करने के लिए "परम" इस शब्द का प्रयोग किया है । अतः भगवत्प्राप्ति का निरतिशयत्व और नित्यत्व होने से तथा "वह फिर संसार में नहीं लौटता" इस श्रुति प्रमाण से स्वार्गादि का फलत्व रूप से श्रुति गोचर होने पर भी अनित्य होने के कारण मुमुक्षुजन उसको महत्व नहीं देते । "जैसे यहाँ कर्म संचित भोग नष्ट हो जाता है वैसा ही स्वार्गादि में पुण्य संचित भोग नष्ट होते हैं" इत्यादि श्रुति प्रमाण से स्वर्गादि लोक को परम फल नहीं कहा है ॥१॥

अथ तत्प्राप्तिमार्गं निर्दिशति--

अब भगवत्प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं ।

अर्चिरादिकया गत्या प्राप्य विष्णोः परं पदम् ।
भगवद्भावमापन्नो मोदते तेन सर्वदा ॥२॥

अर्चिरादि पद्धति के द्वारा भगवान् विष्णु के गोलोकादि पदवाच्य परम पद या परमधाम को प्राप्त होकर (स्थूल सूक्ष्मादि सभी शरीरेन्द्रिय बन्धन से मुक्त पुण्यात्मा जीव) भगवद् भाव को प्राप्त हुआ पर ब्रह्म के साथ सदा आनन्द का अनुभव करता है ॥२॥

अर्चिरादिकया गत्येति ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्तीत्यादिश्रुतिनिर्णीतया तन्मार्गेण ।

अथ तदर्थसंग्रहश्लोकाः ।

प्राणस्योक्रान्तिकाले वै हार्दानुग्रहतो मुनिः ।
तत्प्रकाशितपन्थानं सुषुम्णाख्यं विशंस्तदा ॥

ब्रह्मरन्ध्राद्विनिष्क्रम्य रश्मीनारुहते रवेः ।
तेन मार्गेण प्रथमं वह्निं याति ततो दिनम् ॥२॥
ततः पक्षं सितं प्राप्य षण्मासानुत्तरायणम् ।
संवत्सरं सुरावासं वायुं सूर्य्यं निशाकरम् ॥३॥
विद्युतं वरुणं चेन्द्रं तथैव च प्रजापतिम् ।
तैस्तैर्देवैस्तत्र तत्र ह्युपचारैः समर्चितः ॥४॥
तत्तल्लोकानतीत्यैष भित्त्वा प्राकृतमण्डलम् ।
अमानवैश्च पुरुषैः प्रापितो विरजां नदीम् ॥५॥
त्यक्त्वा तत्र शरीरं वै सङ्कल्पेनैव तां तरन् ।
दिव्यविग्रहसम्पन्नो ऽलंकृतो मानवैस्तदा ॥६॥
ब्राह्मया ऽलङ्कारवेषेण सत्कृतश्चाप्सरोगणैः ।
द्वारपालैः समागम्य तत्तत्स्थानमलौकिकम् ॥७॥
पश्यन्प्रमुदितो याति क्रमेण मणिमण्डपम् ।
दिव्यरत्नमये दिव्ये चासने लौकिके मुदा ॥८॥
श्रिया ऽनुरूपया युक्तं पार्षदैश्चा ऽऽयुधैस्तथा ।
दिव्यालङ्कारसम्पृक्तं श्रीमुकुन्दं च पश्यति ॥९॥
सच्चिदानन्दमूर्तिं तं कल्याणगुणसागरम् ।
कृष्णं श्रियादिसहितं प्रणम्य तत्कृपार्द्रया ॥१०॥
दृशा ऽवलोकितस्तेन भाषितश्च मुदा गिरा ।
ध्रुवं तद्भावमापन्नो जक्षन् क्रीडंश्च ब्रह्मणा ॥११॥
गायन् सामानि तत्रास्ते रममाणश्च वैष्णवः ।
न पुनर्याति संसारं विष्णुलोकगतो मुनिः ॥१२॥
संप्रदायानुसारेण शास्त्रोक्तेश्च समासतः ।
अलसानां विवेकार्थं मार्गो ऽयं संनिरूपितः ॥
इति ॥१३॥

काम्य कर्म को गमना गमन का हेतु समझकर उससे विरक्त बने हुए जो मुमुक्षु साधक पञ्चाग्नि विद्या की रीति से देहादिलक्षण प्रकृति से अलग आत्मा वाले सबको ब्रह्मात्मक रूप से जानते हैं, और जो अरण्यादि पवित्र

स्थान में रहकर श्रद्धा पूर्वक तप साधनादि निवृति कार्य का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् तपः शब्दाभिहित ब्रह्म की उपासना करते हैं वे अर्चिरूप तेज के अभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं । अर्चिरादिक को अतिवाहिकगण कहते हैं'' इत्यादि श्रुति वर्णित अर्चिरादि मार्ग से मुक्तात्मा पुरुष परम पद जाता है। उसी अर्थ को सरल भाव से दर्शाने हेतु श्लोकों में संगृहीत किया है जैसे भगवद् दिदृक्षालम्पट दैन्यादि गुण विशिष्ट मनन शील मुमुक्षुसाधक के प्रति जब प्रभु की अनुग्रह दृष्टि पड़ती है तब वह अप्रतिहत भक्त्युद्रेक के वशीभूत होकर देहादिबन्धन से परे तन्मय भाव से भगवच्चिन्तन करता है । पाञ्च भौतिक शरीर से जब प्राणों का उत्क्रमण आरम्भ होता है तब वह अन्तर्मुखी जीव भक्त्यादि साधन से प्रदर्शित मार्ग-स्वरूप सुषुम्णा नाडी में प्रविष्ट होता है तब प्राणों के साथ ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा) से बाहर निकल कर सूर्य की रश्मियों में आरुढ होता है । रश्मि मार्ग से सर्वप्रथम अग्नि में फिर दिन में प्रवेश करता है ॥१-२॥ उसके बाद शुक्ल पक्ष उत्तरायण स्वरूप षड्मासों में पहुँचता है । फिर संवत्सर, स्वर्ग, वायुमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल में क्रमशः पहुँचता है ॥३॥ वहाँ से विद्युत लोक, वरुणलोक, इन्द्र लोक उसी प्रकार प्रजापति लोक में प्राप्त होता है पुनः सभी लोकों में उन देवताओं द्वारा उसका स्वागत व अर्चन होता है ॥४॥

उन पुण्य लोकों का अतिक्रमण और प्राकृत मण्डल का भेदन कर जब अप्राकृत दिव्य लोक में प्रवेश करता है तब दिव्य पुरुषों द्वारा विरजा नदी में पहुंचाया जाता है जो भगवद्धाम की सीमारूप है । वहां पर सूक्ष्म और कारण शरीर का त्याग कर संकल्प मात्र से विरजा नदी को पार करता हुआ भगवत्प्रदत्त दिव्यदेह से सम्पन्न होता है । तब वहाँ पर अमानव दिव्य पुरुषों और अप्सराओं द्वारा सत्कार पूर्वक दिव्यालङ्कारों से विभूषित किया जाता है । पुनः द्वारपालों द्वारा तत्-तत् स्थानों में पहुँचाया गया वह मुक्त जीव उन दिव्य अलौकिक चिन्मय स्थलों का अवलोकन करता हुआ क्रम से मणि मण्डप पर पहुँचता है । जहाँ पर दिव्य रत्नमय सिंहासन में अपने अनुरूप सौभाग्य से पूर्ण लीला शक्ति भगवती श्रीराधा के साथ विराजमान, पार्षदों, दिव्यायुधों से परिवेष्टित, अलौकिक दिव्याङ्कार युक्त तेजोमय स्वरूप भगवान् श्रीमुकुन्द को देखता हैं ॥५-६॥

सच्चिदानन्दमूर्ति और कल्याण गुण सागर श्रीभूलीलादि अनन्त शक्ति सहित श्रीकृष्ण को प्रणाम करके प्रभु की कृपामयी दृष्टि से अवलोकित वह भगवद् भावापन्न महात्मा प्रभु द्वारा सुमधुर वाणी से कृतार्थ होता हुआ परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के साथ दिव्य सुखों को भोगता है । उनके साथ खेलता, गायन करता हुआ वह वैष्णव अनन्त काल तक रमण करता हुआ परमधाम में रहता है । विष्णु लोक में पहुँचा हुआ भागवत फिर संसार में नहीं आता है ॥१०-१२॥

सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार और श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्रादि शास्त्रों के प्रमाणमय वचनों से संक्षेप में अल्पज्ञ जनों के विवेक (ज्ञान) हेतु उक्त क्रम से इस अर्चिरादि मार्ग का निरूपण किया गया है ॥१३॥

अस्य विस्तरश्च प्रबन्धान्तरे द्रष्टव्यः भगवद्भावपदार्थश्च पूर्वस्मिंश्लोके निरूपितः तेनेति ब्रह्मणा सहेत्यर्थः जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितेति श्रुतेः ।

इस अर्चिरादि मार्ग का विस्तृत वर्णन पूर्वाचार्यों द्वारा प्रबन्ध ग्रन्थों में किया गया है, वहीं पर अवलोकन करना चाहिए । भगवद् भाव पदार्थ क्या है इस विषय में पूर्व श्लोक में वर्णित "मोदते तेन सर्वदा" इन पदों द्वारा संकेतित किया है । अर्थात् "ब्रह्म के साथ खाता हुआ, खेलता हुआ, विविध प्रकार से सुखानुभूति करता हुआ निरतिशय आनन्द से रहता है" इस श्रुति प्रमाण से भगवद् भावापत्ति मोक्ष ही सम्प्रदाय में मान्य है ।

अथकिमर्थोऽयं संदर्भश्रम इत्याशङ्क्याह--

किसलिए इस सन्दर्भ का श्रम किया, इस शंका पर कहते हैं ।

विदुषां परितोषार्थं प्रसादार्थं श्रियः पतेः ।

बोधार्थं बालबुद्धीनां कृतः श्रुत्यर्थसंग्रहः ॥३॥

वेदान्त दर्शन एवं विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों के सन्तोष के लिए और श्रीपति परमात्मा सर्वेश्वर की प्रसन्नता किंवा उनके कृपा प्रसाद को प्राप्त करने हेतु एवं जिनका वेदान्त शास्त्र में प्रवेश नहीं है उनको भी सुख पूर्वक वेदान्त तत्व का ज्ञान हो इसलिए इस वेदान्तार्थ का संग्रह किया गया ॥३॥

अथ ग्रन्थान्ते प्रार्थयते ।

अब कारिकावली के रचयिता श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी ग्रन्थ के अन्त में भगवान् से प्रार्थना करते हैं ।

श्रीहरे वल्लवीकान्त रुक्मिणीनाथ भूपते ।
संसाराब्धिनिमग्नानां प्रसादं कुरु केशव ॥४॥

॥ इति श्रीअध्यात्मकारिकावली समप्ता ॥

हे श्रीहरे ! हे गोपीजनवल्लभ ! निखिल ब्रह्माण्डाधिपति हे प्रभो ! हे ब्रह्म-रुद्रादिदेवों के भी समुपदेशक ! कृपालो ! संसार रूपी सागर में अनन्त काल से निमग्न अनादिकर्मात्मिका अविद्या से ग्रसित जीव समुदाय के ऊपर अपनी सहज भक्तवत्सलतारूप कृपाकादम्बिनी का अभिवर्षण कर अनुग्रह करें ।

प्रसीदतां हयग्रीवः श्रीनिवासो जगद्गुरुः ।
करोतु जगतां श्रेयः कारुण्यादिगुणार्णवः ॥१॥
मङ्गलं गोपिकाप्रेष्ठो मङ्गलं कमलापतिः ।
सत्यभामाप्रियः कृष्णो मङ्गलं भक्तवत्सलः ॥२॥

इति श्रीअध्यात्मसुधातरङ्गिण्यां फलनिर्णयो नाम चरमस्तरङ्गः ॥७॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

सुधातरङ्गिणीव्याख्याकार स्वयं श्रीमत्पुरुषोत्तमप्रसादजी ग्रन्थान्त में मङ्गलाचरण करते हैं--

स्वाभाविक कारुण्यादि गुणों के अर्णव अर्थात् जैसे अनन्त रत्नों का आश्रय रत्नाकर महोदधि है वैसे ही अनन्तानन्त कारुण्य सौशील्य-सार्वज्ञ्य-मार्दव-सौकुमार्यादि दिव्य गुणों के एकमात्र आश्रय श्रीहरि हैं, सर्वोपदेष्टा जगद्गुरु श्रीवत्सलाञ्छन वेदोद्धारक भगवान् श्रीहयग्रीव प्रभु प्रसन्न हों और सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करें । गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण मङ्गल स्वरूप हैं, कमलापति नारायण श्रीहरि मङ्गल स्वरूप हैं, भक्तवत्सल आधारशक्ति पृथिवीरूपा सत्यभामा के प्रियतम श्रीकृष्ण मङ्गल स्वरूप हैं अतः सर्वदा जगत् का मङ्गल करें ।

इस प्रकार अध्यात्मसुधातरङ्गिणी की "अध्यात्मबोधिनी" हिन्दी व्याख्या में फल निर्णय रूप सप्तमतरङ्ग पूर्ण हुआ ॥
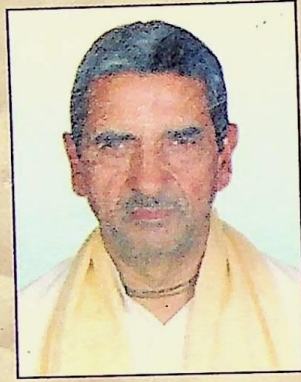
व्याख्यकार	:	श्रीवासुदेवशरण उपाध्याय (निम्बार्कभूषणः) व्या. सा. वेदान्ताचार्यः
जन्म स्थान	:	गण्डकी अंचल स्याङ्जा मण्डलांन्तर्गत किचानासदह (नेपाल)
जन्म तिथि	:	भाद्रपद मास (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी) वि.स. 1997 दिनांक 18-08-1940
प्राचार्य	:	श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालयस्य अ. भा. श्रीनिम्बार्कायार्यपीठ- निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबादः पुष्करक्षेत्रे, अजमेरमण्डलम् (राजस्थानम्)

:: प्रकाशक ::

अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठस्थ-प्रकाशनविभागः